पुस्तक मिलने का पता—

१. वेदमंदिर, कांकरिया रोड, अहमदाबाद, (गुजरात)

२. श्रीस्वामी गोपालानन्दजी वैद्यराज
उदासी बावा का मंदिर
लालदरवाजा, खंभात।



दो शब्द

हे महापुरुष!

अबतक तो मैंने आपकी इस आज्ञा का यथावत् पालन किया कि **"निगम! इस नश्वर शरीर का परिचय किसीको मत देना"।** पर आज तो यह आज्ञा मेरे लिए बहुत ही कठिन प्रतीत हो रही है। क्योंकि मेरा हृदय आपकी अहैतुकी दयासे इतना भर चुका है कि वह बिना फूटे दम न लेगा। सर्वभूत वत्सल! फूटने दीजिए न इसे! होने दीजिए न इस हठी का हठ पूरा!। अच्छा, न सही। पर यदि मैं आपके शरीर का नाम न लेकर अपना हृदय हलका करने के लिए दो शब्द लिख डालू, तो कृपया इसे अपनी आज्ञा का उल्लंघन तो न समझिएगा।

आप शरीर से ब्राह्मण नहीं थे, पर कर्मकांड प्रभाकर आपके चरणों में बैठने के लिए सदा लालायित रहा करते थे। आप संस्कृत का शुद्ध उच्चारण तक नहीं कर सकते थे, पर दर्शन केसरी आप के समीप बैठते ही बिल्ली बन जाते थे। आपने सन्यास नहीं लिया था, पर बड़े बड़े दण्डधारी अवधूत आपके समीप आकर यह कह कह कर रोने लगते थे कि "हमारा क्या बना।" आप त्यागी नहीं थे, पर आजीवन किसी से दातन तक नहीं ली। आप एक निजी कोठी (भवन) में रहा करते थे, परन्तु उसकी रक्षा के लिए आपने ताला तक नहीं खरीदा। आपका अपना कोई संबंधी नहीं था, पर जो आप के समीप बैठता वही आपका बन जाता आप ज्योतिष बिलकुल नहीं जानते थे, पर जो जिज्ञासु आपके समीप आता था, वह बिना प्रश्न किये अपना यथार्थ उत्तर पाकर लौटता था। मेरी इच्छा आप का फोटो प्राप्त करने की हुई, पर हृदयों पर तो आपका फोटो देखने को मिला, किन्तु कागज पर नहीं। (सुना है देहान्त के बाद लोगोंने आपके शव का फोटो ले लिया है) फिर आप कौन थे? समस्त रूप में आप आत्म-रूप थे और व्यस्त रूप में थे आप भगवान् के दास। पर मैं तो एक ही बात जानता हूं कि मेरे कपड़े रँगनेवाले दूसरे थे और मन रँगनेवाले हैं आप।

हे दूसरे महापुरुष ! अभीतक मैंने आपके पाञ्चभौतिक शरीर के दर्शन नहीं किये। पर आपकी फोटो की आकृति उनकी आकृति से बिलकुल मिलती-जुलती है। आकृति ही नहीं मिलती, हृदय भी मिलता है। मुझे तो यह देखकर बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि जो जो बातें वे कहा करते थे; ठीक वही बातें मैं आपकी पुस्तकों में पढ़ता हूँ। कहीं आप दोनो एक तो नहीं ? नहीं। अन्दर से एक होते हुए भी बाहर से भेद है। वे हिमाचल थे आप भागीरथी हैं। अर्थात् उनकी निवृत्ति प्रगट थी और प्रवृत्ति अप्रगट। आपकी प्रवृत्ति प्रगट है और निवृत्ति अप्रगट। हे क्रान्तिकारी महान् आचार्य ! मैं चाटुकारिता को महापाप समझता हूँ। पर यह मैं निर्भीकता पूर्वक एक सचाई प्रगट कर रहा हूँ कि मुझे कोई भी पुरातीन और अर्वाचीन आचार्य कर्म का रहस्य नहीं समझा सका (भले वे कर्म का रहस्य जानते ही हों)। पर आपकी पुस्तकने ही मुझे कर्म का रहस्य समझाया। यह रहस्य समझते ही मेरा जीवन इतना रसमय बन गया है कि कैसे कहूँ। यह तो स्वान्त-संवेद्य बात है। प्रथम महापुरुषने एकबार मुझ से कहा था कि "निगम ! फक्कर बनो फक्कर" मैंने पूछा, फक्कर की क्या पहचान है ? वे बोले "जो भूत का जिकर न करे, भविष्यत् का फिकर न करे और वर्तमान का फक्कर करे, वह है फक्कर।" हे महापुरुषो ! वह आत्मबल दीजिए, जिससे यह फक्कर-वृत्ति आजीवन बनी रहे। (दूसरे महापुरुष हैं श्रीविनोबाजी भावे)।।

आपका—जो कुछ समझें वही

निगम

इस पुस्तक के विषय में

इस में श्रीविनोबाजी की 'ईशावास्य-वृत्ति' के अर्थ ज्यों-के-त्यों दे दिये हैं। जहां आवश्यकता प्रतीत हुई, वहीं उन्हें सुगम और सुबोध बनाने का पूरा-पूरा यत्न किया गया है। शांति-मंत्र की व्याख्या प्रो० श्रीशीलजी के एक भाषण के आधार पर लिखी गई है और मंत्र ६ की व्याख्या में जो **मधुविद्या** पर विचार किया है वह मेरे प्रियबन्धु श्रीविष्णुदेवजी

सातवलेकर पंडित की **'उपनिषत्-सुधा'** के आधार पर है। तो भी इस में बहुत-सी बातें नई नई मिलेंगी। नई होने पर भी किसी प्रकार का विरोध नहीं होगा। श्रीविनोबाजी के निम्न उद्धरण से मैं पूर्णरूपेण सहमत हूँ। **"पूर्वाचार्यों ने जो विवरण किया है उससे इसमें बहुत जगह भिन्नता दिखाई देनेवाली है। लेकिन उसमें विरोध जैसा कुछ नहीं। वचन को अर्थका भार नहीं होता। अगर विचार उत्तरोत्तर आगे बढ़ा तो पूर्वाचार्यों के परिश्रम को उसमें सार्थकता ही है। भिन्न अगर कुछ भी कहने का न हो, तो फिर लिखने की आवश्यकता ही क्या है?"**

परिशिष्ट में गीता का कौन-सा अध्याय ईशावास्य के किस मंत्र या पद में से निकला है, यह दिखाकर सब मंत्रों की प्रतिपद-हिन्दीव्याख्या दे दी है। गुजरात के मूकसेवक (चलती फिरती उपनिषद्) श्रीरविशंकरजी महाराज के आदेश से मंत्रों का पद्यानुवाद भी दे दिया है।

आरंभ में श्रीविनोबाजी का **'ईशावास्य-बोध'** भी दे दिया गया है। एतदर्थ श्रीमती ग्राम सेवा-मंडल 'वर्धा' को अनेक धन्यवाद हैं, जिन्होंने इसे प्रकाशित करने की स्वीकृति दी है। इतना कुछ होने पर भी मेरा मन छपाई से संतुष्ट नहीं हुआ। आशा रखता हूँ कि यदि यह शरीर ठीक रहा तो इसका द्वितीय संस्करण मोटे टाइप में बहुत शीघ्र निकलेगा।

अंत में मैं स्वर्गीय भाईश्री फूलशंकर-सुन्दरलाल देसाई ऐडवोकेट न्याय-सदस्यों (ट्रस्टियों) तथा वेदमंदिर-प्रकाशनाध्यक्ष म. म. महलेश्वर श्री स्वामी सर्वानन्दजी को अनेक धन्यवाद देता हूँ जो प्रतिवर्ष वैदिक तथा दार्शनिक प्रकाशन निकाल कर जनता में सत्संस्कारों का संचार कर रहे हैं। यह **'दर्शन'** भी उन्हीं की ओर से प्रकाशित हो रहा है।

—निगम

ॐ

विषय-सूची



ईशावास्य-बोध

[स्व० महादेवभाई देसाई की तीसरी पुण्य-तिथि पर खादी विद्यालय, सेवाग्राम में दिया गया पू. विनोबा जी का प्रवचन]

भाई नारायण ने जब मुझे ईशावास्य का पाठ करने के लिए निमन्त्रित किया, तब मैंने बिना संकोच उसे स्वीकार कर लिया। यद्यपि इन दिनों पाठ-शक्ति मुझमें वैसी नहीं रही जैसे पहले थी, फिर भी पाठमें लाभ है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ। पाठ के साथ-साथ उसका अर्थ जानना जरूरी है। मैं समझता हूँ कि मुझे यहाँ केवल पाठ नहीं करना है, उसका अर्थ भी करना है। इसलिए मैं अर्थ शुरू करता हूँ।

यह एक छोटी-सी उपनिषद् है। शायद ही ऐसी कोई दूसरी छोटी रचना हो जिसमें इतना अर्थ समाविष्ट किया गया हो। हम रोज गीता का पाठ करते हैं। वह भी छोटी ही है। फिर भी उसमें अठारह अध्याय हैं। पर इसमें तो केवल अठारह श्लोक हैं। लोग मानते हैं कि दुनिया का पहला ग्रंथ वेद है। वेदों का रहस्य जिन ग्रंथों में आया है, उनको वेदांत कहते हैं। ईशावास्य एक वेदांत ग्रंथ है। वेदांत के ग्रंथ तो वैसे बहुत हैं। पर इसमें थोड़े में वेदों का सार आ गया है, और उसका भी निचोड़ पहले मंत्र में आया है।

उसका अर्थ है कि दुनिया में जो भी जीवन है, सब ईश्वर से भरा है। कोई चीज ईश्वर से खाली नहीं। सत्ता की भाषा में बोलें, तो यहाँ केवल उसीकी सत्ता है। वही एक मालिक है। यह समझ कर हमें सब उसीको समर्पण करना चाहिए और जो कुछ उसके पास से मिले, प्रसाद समझ कर ग्रहण करना चाहिए। यहाँ मेरा कुछ भी नहीं, सब ईश्वर का है—ऐसी भावना रखनी चाहिए। जो पुरुष इस तरह रहेगा—कोई भी चीज अपनी नहीं मानेगा—सभी उसका होगा, सब उसे मिल जायगा। जो कुछ उसे मिलेगा, उसमें वह संतुष्ट रहेगा। दूसरे का मत्सर नहीं करेगा। किसीके धन की अभिलाषा नहीं करेगा। इस छोटे-से मंत्र में एक महान जीवन-व्यापी सिद्धान्त बता दिया है, और उसे अमल में

लाने का उपाय भी। ईश्वर-समर्पण, प्रसाद के रूप में ग्रहण, मत्सर न करना, धन की वासना न करना—इस प्रकार एक संपूर्ण विचार इस मंत्र में हमारे सामने रख दिया है।

बहुधा हम देखते हैं कि मनुष्य दूसरे के धन की अभिलाषा करता है। यह क्यों? इसलिए कि वह आलस्य में जीना चाहता है। दूसरे मंत्र में इसलिए कहा है कि बिना कर्म के जीवन की इच्छा रखना जीवन के साथ बेईमानी है। अर्थात् निरंतर कर्म करते हुए जैसी जिन्दगी भगवान् हमें दे, जीना चाहिए। जब हम कर्म को टालते हैं, जीवन भाररूप होता है—शापरूप होता है। जाने-अनजाने हम सब यह कर रहे हैं, इसीसे हम दुःख भोग रहे हैं। दुनिया में जो पाप हैं, वे भी बहुत सारे इसीसे पैदा हुए हैं।

तीसरे मंत्र में आगे चलकर बताया है कि भाई, अगर भगवान् को भूल जाते हो, भोग प्रधान वृत्ति रखते हो, कर्मनिष्ठा को छोड़कर आलस को अपनाते हो, तो इसी जिन्दगी में नरक में पड़ते हो। और जो स्थिति जिंदगी में है उसीके अनुसार मरने के बाद भी गति होगी, यह वस्तु तीसरे मंत्र में समझाई है।

मंत्र चार और पाँच का एक स्वतंत्र परिच्छेद होता है। उसका सार यह है कि ईश्वर की शक्ति अलौकिक है। वह असीम है। उसके बारे में हम तर्क नहीं कर सकते। हमारे तर्क से वह सीमित हो जायगा। गीता में बताया है कि ईश्वर जब अवतार लेता है, तब वह महान् कर्म करता हुआ दिखाई देता है, पर उस कर्म का लेप उसे नहीं लगता। उस समय भी वह अकर्मा रहता है। इससे उलटे, जब वह अपने मूल रूप में रहता है, अर्थात् अवतार ग्रहण नहीं करता है, तब वह कुछ भी नहीं करता दिखाई देता है, पर उस समय भी वह सारी दुनिया का शासन करता रहता है। अर्थात् अकर्मा भी वह सब कर्म करता है। वही उसका व्यापक स्वरूप यहाँ रख दिया है।

फिर तीन मंत्रों में ईश्वर-भक्त का वर्णन है। वह अपने में सब को

और सब में अपने को देखता है। यही भक्ति है। भक्ति से निज-पर का भेद मिट जाता है। मनुष्यने अपने बीच हजारों दीवारें खड़ी की हैं। राष्ट्र, समाज और कुटुम्ब में लड़ाई-झगड़े इसीसे पैदा हुए हैं। इस निज-पर के भेद को मिटाना ईश्वर के ज्ञान का फल है। जो ईश्वर की भक्ति करने वाला है, वह इसी रास्ते पर अग्रसर होता है। दिन दिन उसकी आत्म-भावना बढ़ती जाती है। अर्थात् वह सोचता है कि जैसे मेरे शरीर की वासनाएँ है, दूसरों के भी हैं। इसलिए उनको खिला कर खाऊँ और पिलाकर पीऊँ। मुझमें और मेरे कुटुम्ब में कोई भेद नहीं, इसी तरह देहात देहात और राष्ट्र-राष्ट्र में कोई भेद नहीं। इतना ही नहीं, मनुष्य और पशु में भी वह भेद नहीं करता। इस प्रकार वह अपना-पराया भेद मिटाता है। जो इस तरह रहता है, उसका जीवन आनंद-मय बनता है। इस प्रकार ईश्वर निष्ठ पुरुष का या आत्मज्ञानी का वर्णन करके आठवें मंत्र के अंत में पूर्वार्ध समाप्त किया है।

आगे के तीन मंत्रों में बुद्धि का कार्य बतलाया है। बुद्धि भगवान् ने हमारे हाथ में एक बड़ा हथियार दिया है। इससे हम अपनी उन्नति कर सकते हैं और अवनति भी। हमें चाहिए कि हम उन्नति करें। दुनिया में जितना भी ज्ञान है उस सारे ज्ञान की हमें आवश्यकता नहीं। कुछ तो आवश्यक ज्ञान होता है, कुछ अनावश्यक। आवश्यक और अनावश्यक ज्ञान का विवेक करना हमें सीखना चाहिए। जो ज्ञान आवश्यक नहीं, उससे जीवन बरबाद होगा और बुद्धि पर व्यर्थ का बोझ पड़ेगा। जो आवश्यक है वह अगर हासिल नहीं किया, तो मनुष्य अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर सकेगा। इसलिए इन मंत्रों में कहा है कि विद्या भी चाहिए और अविद्या भी। जो आवश्यक नहीं उसका अज्ञान ही रहने दे। अगर असावधानता से अनावश्यक ज्ञान हो जाय, तो प्रयत्न-पूर्वक उसे भूल ही जाना चाहिए। साथ ही हमें यह भी पहचानना चाहिए कि हम तो ज्ञान और अज्ञान दोनों से भिन्न, केवल साक्षिरूप हैं। इस तरह अभ्यास करने से बुद्धि ईश्वर-परायण रहती है। नहीं तो वह अवनति के लिए कारण हो सकती है।

स्थायी राजा बनाने के समय निर्वाचन पद्धति में हम सेना पसंद करेंगे और भिन्न भिन्न गुण एक अवधि के लिए राजा बनेंगे। लेकिन जिन गुणों को मैं राजा बनाऊं, लगता है, उनमें ऋजुता का स्थान पहला रहेगा। जहां ऋजुता है, सरलता है, वहां धर्म है, वहाँ जीवन है। जहां वक्रता है, वहां अधर्म है, मृत्यु है। कातने वाला जानता है कि तकुआ सीधा चाहिए। उसमें टेढ़ापन जरा भी नहीं चलता। तकुआ जिस तरह टेढ़ापन सहन नहीं करता उसी तरह हम भी अपने जीवन में वक्रता को बिलकुल सहन न करें। काया-वाचा, मन से अंदर बाहर हम सरल हो जायं। ऐसे सरल जीवन के लिए हमें बल दें, ऐसी इस मंत्र में प्रार्थना की है।

उपनिषद् के आरम्भ में और अन्त में शान्ति मंत्र बोलते हैं। उसका अर्थ है—सब पूर्ण है, इसलिए सर्वदा शान्ति रखनी चाहिए। अशांति का कोई कारण ही नहीं। पर हमें तो आभास होता है, जिधर देखो उधर दुःख भरा है, सब अपूर्ण है, और उसे हमें पूरा करना है। लेकिन ऐसा नहीं। कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बनाता है सही, पर उसको जानना चाहिए कि मैं नया कुछ नहीं करता हूँ। घड़ा तो मिट्टी में पहले ही मौजूद था, छुपा था। मैं तो बीचमें निमित्तमात्र खड़ा हो गया हूँ। इसी तरह शिक्षक भी सोचेगा, वह विद्यार्थी को ज्ञान नहीं देता। ज्ञान तो विद्यार्थी के दिमाग में भरा ही है। शिक्षक उस ज्ञान को प्रकट करने भर में सहायक बनता है। इसी तरह माता पिता भी सोचें। दुनिया पूर्ण है, लेकिन हमें बीचमें खेल करने का मौका मिला है। पानी में लहर उठती है। एक लहर उठती है और मिट जाती है। उसके पीछे दूसरी लहर उठती है और वह भी मिट जाती है। उसके बाद पानी ही पानी। वैसे ही हम भी हैं। जब हम काम करते हैं और गिर जाते हैं। दूसरे उठते हैं। इस तरह जब हम सोचते हैं, अशांति का कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिए अन्त में कहा है—

ॐ शांति शांति शांति

ॐ

ईशावास्य-दर्शन

उपोद्घात

राधां कृष्णमयीं साक्षात्, कृष्णं राधामयं तथा ।
द्वयं जगन्मयं चैतद्, भावये मन्मयं जगत् ।१।
ईशावास्यस्य या वृत्तिः, श्रीविनोबा-विनिर्मिता ।
गुरु-शिष्य-संवादेन, दर्श्यते विशदं हि सा ।२।
अनुवादः सखा मेऽस्ति, लेखनी सहचारिणी ।
ययोः साहाय्य मासाद्य, गतोऽस्मि विदुषा पदम् ।३।

शिष्य—ये तीन श्लोक लिखने का क्या भाव है?

गुरु—पहले श्लोक में मंगल के लिए अपनी भावना का, दूसरे में अपनी इस पुस्तक के आधार का और तीसरे में अपने अध्ययन की न्यूनता का निर्देश किया है।

शिष्य—यदि आपका अध्ययन कम है तो लिखने ही क्यों बैठते हैं?

गुरु—अध्ययन दूसरों की आंखों देखना है और मनन अपनी आंखों। इसलिए लिखने में कुछ बाधा प्रतीत नहीं होती।

शिष्य—क्या '**ईशावास्य**' किसी व्यक्ति का नाम है?

गुरु—नहीं। संस्कृत-साहित्य में जो जो ग्रन्थ देखने में आते हैं। उनके नाम या तो किसी व्यक्ति के नाम पर ही रख लिये गये हैं, जैसे 'रघुवंश' 'हर्षचरित' 'शकुन्तला' 'कादम्बरी' आदि। अथवा उसमें की किसी मुख्य घटना के आधार पर ग्रन्थ का नामकरण हुआ है, जैसे 'मृच्छकटिक' 'ऊरुभंग' 'पंचरात्र' 'प्रतिमा नाटक' आदि। अथवा सीधा विषयानुसार भी नाम रख लेते हैं। जैसे 'साहित्य दर्पण' 'भारतवर्ष का इतिहास' आदि। पर यहां इन मार्गों से

आगे के तीन मंत्रों में हृदय-शोधन आया है। जिस तरह बुद्धि की शुद्धि करना आवश्यक है, उसी तरह हृदय की भी। हमें हृदय में देखना चाहिए। हमारे हृदय में दोष और गुण भरे हैं। तब हमें क्या करना चाहिए? हमें गुणों की 'संभूति' करनी चाहिए। उनका विकास करते रहना चाहिए। उन्हें उज्ज्वल बनाना चाहिए और दोषों की 'असंभूति' करनी चाहिए। अर्थात् नये दोष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए, और जो हों उनका विनाश करना चाहिए। जो कुछ भी हम करते हैं, उसमें हमारी दृष्टि केवल चित्त शुद्धि की होनी चाहिए। बाह्यदृष्टि से किसी कर्म में हमें खूब सफलता भी मिले और लोग हमारा जयजयकार करने लगें, फिर भी अगर उस कर्म से हमारे गुण नहीं बढ़े हैं, तो वह कर्म बुरा है। उससे अपनी अवनति की है, और दुनिया की भी होने दी है। साथ ही हमें यह भी पहचानना चाहिए कि हम तो दोष और गुण दोनों से भिन्न, केवल साक्षिरूप हैं। इस तरह अभ्यास करने से सच्ची हृदयशुद्ध होगी।

इसके आगे एक महान् मंत्र आया है उसमें दर्शन का सार आ जाता है। दर्शन सार यह है कि दुनिया में सत्य छिपा हुआ है। वह मोह के आवरण से ढका है। जबतक उस मोह के आवरण का हम भेद नहीं करते हैं, तबतक सत्य का दर्शन नहीं होता। यह इसलिए नहीं कि बुद्धि-शक्ति की कमी है। दर्शन तो बुद्धि पर मोह का आवरण होने के कारण ही नहीं होता। एक मोह कांचन मोह है। बाहर और अन्दर भी उस मोह के कारण परदे पड़ते हैं। उसके कारण सत्य का दर्शन नहीं होने पाता। और भी तरह तरह के मोह हैं। उनको **"हिरण्मय पात्र"** अर्थात् सोने का ढक्कना कहा है। अगर सत्य के दर्शन करना है, तो वह सोने का ढक्कना दूर हटा देना चाहिए।

आखिर के तीन मंत्रों में हमारा विकास-क्रम बतलाया है।

मंत्र सोलहवें में बताया है कि जिसे ईश्वर कहते हैं, वह इस संसार को प्रेरणा देता है, उसका पालन पोषण करता है, और नियमन करता है। वह संसार का नित्य निरीक्षण करता है। ऐसी जिसकी शक्ति गाई

जाती है, उसके सामने तो मैं एक तुच्छ जीव हूँ। पर उसमें और मुझ-में तत्त्व भेद नहीं। क्योंकि उसीका मैं अंश हूँ। वही मैं हूँ। मुझ पर यह देह एक आवरण है। यह एक सुवर्ण-पात्र है। इसके भीतर मैं छिपा हूँ। इस देह को अगर हम भेद सकते हैं, तो उस 'मैं' का दर्शन होता है ईश्वर जिस प्रकार पूर्ण है, सुन्दर है, मैं भी हूँ—हो सकता हूँ। 'सोऽहम्' मंत्र ने यह आश्वासन हमें दिया है।

फिर कहा है कि इसकी हमें आमरण साधना करनी है। जितने भी भेद हैं, सब बाहरी हैं, देह के साथ हैं। मुझ में—आत्मा में—कोई भेद नहीं। बाहरी आवरणों को भेद कर हमें अंतर्यामी के पास पहुँचना है। काला-गोरा, पतला-मोटा, मूढ़-चतुर, नीतिमान्-अनीतिमान्—सभी भेद ऊपरी हैं, देह के साथ हैं। इन्हें हमें भूल जाना है और अन्दर की वस्तु को ग्रहण करना है। ऋषि कहता है कि जो इस तरह आमरण साधना करता है, उसका देह जब गिर जाता है, तो उसकी मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है और आत्मा परमात्मा में मिल जाता है।

आखिरी मंत्र भगवान् की प्रार्थना है। भगवान् को मार्ग दर्शक अग्नि के रूप में देखा है। जो अग्नि हममें रहकर हमें जीवित रखता है, जिसके न रहने से शरीर ठण्डा पड़ जाता है, वह जो गरमी है वह उपासना के लिए चैतन्य का एक संकेत है। उससे हम चैतन्य पहचानते हैं। वह चैतन्य की व्याख्या नहीं। अग्निस्वरूप चैतन्यदायी भगवान् से प्रार्थना की है कि हे प्रभो, अबतक हममें चेतना है, गरमी है, हमें सीधी राह पर रख। हमें वक्र मार्ग से न ले जा। आप लोग बुनने का काम करते हैं और शायद इस मंत्र का ऋषि भी बुनकर होगा। आप जानते हैं कि बुनते समय अगर हत्थे को ठोंक टेढ़ी लगती है तो कपड़ा टेढ़ा हो जाता है, बिगड़ता जाता है इसलिए भगवान् से इस अन्तिम मंत्र में प्रार्थना की है कि हे प्रभो, हमारे जीवन में किसी तरह की वक्रता न आने दे। हमें सीधी राह से ले जा। अगर मुझसे पूछा जाय कि किस गुण को गुणों का राजा बनाओगे तो मैं किसी एक गुण को

-स्थायी राजा बनाने के बजाय निर्वाचन पद्धति से काम लेना पसंद करूंगा और भिन्न-भिन्न गुण एक अवधि के लिए राजा बनेंगे। लेकिन जिन गुणों को मैं राजा बनाऊं, लगता है, उनमें ऋजुता का स्थान पहला रहेगा। जहां ऋजुता है, सरलता है, वहां धर्म है, वहाँ जीवन है। जहां वक्रता है, वहां अधर्म है, मृत्यु है। कातने वाला जानता है कि तकुआ सीधा चाहिए। उसमें टेढ़पन जरा भी नहीं चलता। तकुआ जिस तरह टेढ़पन सहन नहीं करता उसी तरह हम भी अपने जीवन में वक्रता को बिलकुल सहन न करें। काया-वाचा, मन से अंदर बाहर हम सरल हो जायं। ऐसे सरल जीवन के लिए हमें बल दे, ऐसी इस मंत्र में प्रार्थना की है।

उपनिषद् के आरम्भ में और अन्त में शान्ति मंत्र बोलते हैं। उसका अर्थ है—सब पूर्ण है, इसलिए सर्वदा शान्ति रखनी चाहिए। अशान्ति का कोई कारण ही नहीं। पर हमें तो आभास होता है, जिधर देखो उधर दुःख भरा है, सब अपूर्ण है, और उसे हमें पूरा करना है। लेकिन ऐसा नहीं। कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बनाता है सही, पर उसको जानना चाहिए कि मैं नया कुछ नहीं करता हूँ। घड़ा तो मिट्टी में पहले ही मौजूद था, छुपा था। मैं तो बीचमें निमित्तमात्र खड़ा हो गया हूँ। इसी तरह शिक्षक भी सोचेगा, वह विद्यार्थी को ज्ञान नहीं देता। ज्ञान तो विद्यार्थी के दिमाग में भरा हो है। शिक्षक उस ज्ञान को प्रकट करने भर में सहायक बनता है। इसी तरह माता-पिता भी सोचें। दुनिया पूर्ण है, लेकिन हमें बीचमें खेल करने का मौका मिला है। पानी में लहरें उठती हैं। एक लहर उठती है और मिट जाती है। उसके पीछे दूसरी लहर उठती है और वह भी मिट जाती है। किन्तु होता है सब पानी-ही-पानी। वैसे ही हम भी हैं। जब हम काम करते हैं और गिर जाते हैं। दूसरे उठते हैं। इस तरह जब हम सोचते हैं, अशान्ति का कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिए अन्त में कहा है.—

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

ॐ

ईशावास्य-दर्शन

उपोद्घात

राधां कृष्णमयीं साक्षात्, कृष्णं राधामयं तथा ।
द्वयं जगन्मयं चैतद्, भावये मन्मयं जगत् ।१।
ईशावास्यस्य या वृत्तिः, श्रीविनोबा-विनिर्मिता ।
गुरु-शिष्य-संवादेन, दर्श्यते विशदं हि सा ।२।
अनुवादः सखा मेऽस्ति, लेखनी सहचारिणी ।
ययोः साहाय्य मासाद्य, गतोऽस्मि विदुषां पदम् ।३।

शिष्य—ये तीन श्लोक लिखने का क्या भाव है?

गुरु—पहले श्लोक में मंगल के लिए अपनी भावना का, दूसरे में अपनी इस पुस्तक के आधार का और तीसरे में अपने अध्ययन की न्यूनता का निर्देश किया है।

शिष्य—यदि आपका अध्ययन कम है तो लिखने ही क्यों बैठते हैं?

गुरु—अध्ययन दूसरों की आँखों देखना है और मनन अपनी आँखों। इसलिए लिखने में कुछ बाधा प्रतीत नहीं होती।

शिष्य—क्या 'ईशावास्य' किसी व्यक्ति का नाम है?

गुरु—नहीं। संस्कृत-साहित्य में जो जो ग्रन्थ देखने में आते हैं। उनके नाम या तो किसी व्यक्ति के नाम पर ही रख लिये गये हैं, जैसे 'रघुवंश' 'हर्षचरित' 'शकुन्तला' 'कादम्बरी' आदि। अथवा उसमें की किसी मुख्य घटना के आधार पर ग्रन्थ का नामकरण हुआ है, जैसे 'मृच्छकटिक' 'ऊरुभंग' 'पंचरात्र' 'प्रतिमा नाटक' आदि। अथवा सीधा विषयानुसार भी नाम रख लेते हैं। जैसे 'साहित्य दर्पण' 'भारतवर्ष का इतिहास' आदि। पर यहाँ इन मार्गों से

नाम न लेकर नामकरण का अन्य ही मार्ग निकाल लिया गया है। 'ईशावास्य' एक उपनिषद् का नाम है। यह नाम उसके पहले मंत्र के पहले पद परसे रख लिया गया है। पहला मंत्र है **'ईशावास्य मिदं सर्वम्'** इत्यादि। इसी प्रकार का दूसरा नाम **'केनोपनिषद्'** है। ये दो नाम छोड़कर तीसरा इसीप्रकार का नाम अभीतक मेरे कानों में नहीं आया। यह **'ईशावास्य'** आदिम भी है और अन्तिम भी। उपनिषदों में इसका नाम आदि में आता है। इसलिए यह वेदों का सार है और श्रीमद्-भगवद्-गीता की जननी है। यह यजुर्वेद के अन्त में आती है, इसीलिए इसका नाम 'वेदान्त' भी है। 'वेदान्त' शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी होता है। अतः इसे 'वेदोंका रहस्य' भी कहते हैं।

शिष्य—'उपनिषद्' शब्द का क्या अर्थ है?

गुरु—'उपनिषद्' आदि शब्द-राशि ही अपना महान् अर्थ (सम्पत्ति) है। वेदादि भी शब्द-राशि के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

शिष्य—अब मैं समझा कि अपने पूर्वज शब्दरूपी पेटियों में अर्थरूपी अमूल्य रत्न बन्द करके हमारे लिए छोड़ गये।

गुरु—नहीं बेटा, ऐसा नहीं। ऐसा मान लेने से ही आज अर्थ का अनर्थ हो रहा है। सौम्य! शब्दों में अर्थ नहीं रहा करते। शब्द तो उन उन अर्थों का संकेतमात्र करते हैं। शब्द आकाश में रहता है। उसकी सांकेतिक आकृतियां ग्रन्थों में रहती हैं और उनका अर्थ रहता है लोकमें। पोथी में अर्थ बिलकुल नहीं रहता खोपड़ी में रहे तो रहे।

शिष्य—अच्छा, तो 'उपनिषद्' शब्दसे किस अर्थका बोध होता है?

गुरु—'उपनिषत्' शब्द के तीन खंड हो सकते हैं— उप-नि-सत्, 'उप' समीप का, 'सत्' बैठना क्रियाका और 'नि' नितरां (निष्ठा) का बोधक है। कोई बैठनेवाला भी होगा ही। किसी के समीप ही बैठा जायगा और बैठने का भी कुछ-न-कुछ उद्देश्य होना ही चाहिए।

का बच्चा पैदा होते ही शाखाएँ आदि पकड़ने लगता है। इन्होंने ये क्रियाएँ कहाँ देखी और सुनी हैं?

गुरु—यही ऐसी बातें हैं जिनसे पूर्वजन्म सिद्ध होता है। इसलिए पूर्वजन्म में देखा हुआ और सुना हुआ ही इनका कारण मानना पड़ता है।

शिष्य—देखा जाता है कि बहुत लोग 'गुरु' बनाने पर भी कोरे-के-कोरे रह जाते हैं। इसका क्या कारण है?

गुरु—यह कभी मानने जैसी बात नहीं कि पैट्रोल तो हो, पर आग न लगे। या तो पैट्रोल की जगह पानी होगा या दियासलाई ही नहीं होगी। या तो शिष्य ही नहीं होगा या गुरु ही नहीं होगा।

शिष्य—शिष्य कैसा होना चाहिए और गुरु कैसा?

गुरु—जो 'गुर' बना सके वह गुरु और जो 'गुर' बन सके वह शिष्य।

शिष्य—यह बात थोड़े विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

गुरु—सुनो, महाभारत युद्ध होने ही वाला था। अर्जुन मोह में पड़ गया और कह उठा कि 'शिष्यस्तेऽहं शाधि माम्' मैं तेरा शिष्य हूँ और तू मेरा गुरु; अतः हो जाय कृपा। पैट्रोल तो था ही, क्योंकि वह गुडाकेश—तमोगुणरहित—था। आग लगानेवाला भी पक्का था; क्योंकि वह हृषीकेश—जितेन्द्रिय—था। इसलिए गुरु को हृषीकेश (जितेन्द्रिय) और शिष्य को गुडाकेश (सत्त्वगुणी) होना ही चाहिए।

दूसरा उदाहरण लो। अयोध्यावासी (सब नरनारी) राम से मिलने के लिए गये। रास्ते में गुहसे भेंट हुई। भरतजी कहते हैं कि "मनहुँ लखनसन भेंट भइ, प्रेमु न हृदयँ समाइ"। रानियां "जानि लखनसम देहिं असीसा। जियहु सुखी सय लाख बरीसा" "निरखि निषादु नगर नरनारी। भए सुखी जनु लखनु निहारी"। दूसरे किसी भाई का नाम न लेकर लक्ष्मणजी का ही क्यों नाम लेते हैं? इसलिए कि जैसे भगवद्गीता के सुनने से अर्जुन कृष्ण (अर्जुन का एक नाम) बन गया। वैसे ही गुह भी लक्ष्मणगीता

सुननेसे लक्ष्मण का रूप बन गया। संत विनोबा तो इससे भी दो कदम आगे निकल गये। वे कहते हैं कि गुरु कृष्ण, शिष्य कृष्ण और उन दोनों का संवाद लिखने वाला भी कृष्ण (कृष्णद्वैपायन)। अतः शिष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी कमियां कान खोल करके और आंखे मूद कर सुने एवं दूसरोंकी कमियां कान मूद करके और आंखें खोलकर सुने। गुरु को भी चाहिए कि वह शिष्य के प्रत्येक प्रश्न का 'प्रहसन्निव' हो कर उत्तर दे। अब तुम समझ गये होगे कि 'उपनिषत्' शब्द से कितना महान् अर्थ अवगत होता है।

शिष्य—कृपया पुनः एकबार इसका संक्षेप कह दीजिएगा।

गुरु—जैसे गीता ने अपने तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोकसे लेकर ग्यारहवें श्लोक तक का साध्य-साधन दो अक्षर के 'ज्ञान' शब्द में भर दिया है। वैसे ही उपनिषदों में भी ज्ञान साधना और उसका फलित होनेवाला ज्ञान दोनो 'उपनिषत्' शब्द में भर दिये हैं। *निष्कर्ष यह निकला (१) आत्मबल (२) उत्साह (३) ब्रह्मचर्य (४)* गुरुसेवा में शरीर को निःशेष खपादेना (५) गुरु-(हृदय)-सांनिध्य, (६)जीवन-निरीक्षण (७) श्रवण (८) मनन (९) अवबोधन (१०) आचरण (११) अनुभूति।

शिष्य—पूर्वोक्त विवेचन में 'ब्रह्मचर्य' शब्द कहां आया निष्कर्ष में कहांसे आगया?

गुरु—बहुत अच्छा पूछा। छान्दोग्य में "ब्रह्मचारी आचार्य-कुल-वासी, अत्यन्तम् आत्मानम् आचार्यकुले अवसादयन्" (२।२३।१) लिखा है। अर्थात् ब्रह्मचर्य-पूर्वक गुरु के पास रहकर (उप), गुरु सेवा में अपने आपको अत्यन्त निःशेष रूपसे (नि), खपाने वाला (सन्)। दोनों को मिलाकर इतना 'अर्थ' समझना।

शिष्य—आपने 'अर्थ समझना' कैसे कहा? क्यों कि अर्थ तो आपके मतसे शब्दमें नहीं रहता।

गुरु—मेरे मतमे ही नहीं, सभी के मन में समझो। 'अर्थ' शब्द में कभी नहीं रहना। यहाँ या कहीं अन्यत्र ऐसे स्थलों पर जो 'अर्थ, शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसका मतलब, आशय तात्पर्य, अभिप्राय, समझना चाहिए।

शिष्य—'ब्रह्मचर्य' किसे कहते हैं?

गुरु—गुरु की सेवा में अपने आपको निःशेष खपादेना। अर्थात् स्वामी सेवक और सेवा तीनों का एक हो जाना ही सच्ची सेवा (ब्रह्मचर्य) है।

शिष्य—सबसे श्रेष्ठ गुरु कौन है?

गुरु—"पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (यो, द सू २६) ईश्वर ही गुरुओंका गुरु है। जो अपना हाथ न पकड़ाकर ईश्वर का हाथ पकड़ाता है वह भी गुरु ही है।

शिष्य—क्या संसार छोड़कर ईश्वरप्राप्ति के लिए बाहर जंगलमें जाने की आवश्यकता नहीं है।

गुरु—कहाँ जाओगे क्या वहाँ संसार नहीं? यदि है तो तुमने छोड़ा ही क्या? प्यारे! संसार तो अपने अन्दर है, उसका प्रतिबिम्ब मात्र बाहर है। तेरे ही प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है और तेरे सो जाने पर संसार का भी प्रलय हो जाता है "**सम्मीलने नयनयो र्नहि किञ्चिदस्ति**"। अतः ईश्वरप्राप्ति के लिए घर छोड़कर बाहर जाने की आवश्यकता नहीं, अपने ही घर को ईश्वर का घर बनाओ।

शिष्य—अपना घर ईश्वर का घर कैसे बनाया जाता है?

गुरु—सेवासे। अपनी प्रत्येक इन्द्रिय जगदीश्वर की सेवामें लगा दो। जगदीश्वर की सेवा करनेके योग्य बनने के लिए पहले 'जगत्' की सेवा करो। जगत् की सेवा ही स्वयं जगदीश्वर की सेवा बन जायगी। अन्त में तीनों (सेव्य-सेवक-सेवा) एक बन जायँगे।

शिष्य—'ब्रह्मचर्य' शब्द का जैसा तात्पर्य लोग बताते हैं क्या वह ठीक नहीं ?

गुरु—अभीतक मेरी समझ में नहीं आसका। जो बाकी सभी इन्द्रियों को बे-लगाम छोड़ देता है और एक इन्द्रिय पर लगाम लगा लेता है वह कैसा 'ब्रह्मचारी'। जितना इन्द्रियों को निरंकुश छोड़ देना अप्राकृतिक है; उतना ही इन्द्रियों से काम न लेना भी अप्राकृतिक है। जितेन्द्रिय होना चाहिए कर्मेन्द्रिय या नष्टेन्द्रिय नहीं।

शिष्य—क्या किसी एक ही कर्मेन्द्रिय पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती ?

गुरु—बिलकुल ही नहीं। क्यों कि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का अटूट सम्बन्ध है। जैसे-श्रवण और वाणी का, त्वचा और हाथ का, आँख और पाँव का, रसना और उपस्थका, नासिका और गुदाका। अर्थात् जो सुन नहीं सकता वह बोल भी नहीं सकता। जिसके स्पर्शेन्द्रिय नहीं उसका हाथ नहीं हिल सकता। जो आँखोंसे हीन है वह चल नहीं सकता। जिसके रसना नहीं उसकी जननेन्द्रिय काम नहीं करेगी। नासिकाहीन का मलत्याग नहीं हो सकता।

शिष्य—क्या आप इस संबन्धमें एक-आध आर्ष प्रमाण भी दे सकते हैं ?

गुरु—तुम्हें प्रमाणों की आवश्यकता हो तो शास्त्र देखो उनमें बहुत-कुछ भरा पड़ा है। सचाई के लिए बहुत प्रमाणों की आवश्यकता नहीं रहती। अच्छा एक वाक्य सुनाता हूँ। स्वतः यह 'भागवत' का है। "जिह्वोपस्थजयो धृतिः" ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा पर विजय प्राप्त करलेने से कर्मेन्द्रिय उपस्थ पर स्वयं विजय होजाती है और यही सच्चा धैर्य है।

शिष्य—'जो आँखोंसे हीन है वह चल नहीं सकता' यह आपने कैसे कहा ? क्योंकि हम अन्धोंको चलते हुए देखते हैं।

गुरु—ज्ञानेन्द्रिय आँख के बिना कर्मेन्द्रिय पाँव कभी नहीं चल सकते। अंधे या तो किसी आंखवाले का सहारा लेकर चलेंगे या लाठीको ही अपनी आंख बनावेंगे। अर्थात् वे ज्ञानेन्द्रिय त्वचा के होनेके कारण कर्मेन्द्रिय हाथ के स्पर्श से काम चलावेंगे।

शिष्य—'उपनिषद्' शब्द का तात्पर्य समझा। अब इसके कर्ता आदि के विषयमें कुछ सुनना चाहता हूँ।

गुरु—सुनो, 'उपनिषद्' है श्रुति, जो गुरु-परम्परा से ही सुनी जाती चली आरही है। श्रुति वेदको कहते हैं। वेद नाम ज्ञान का है। ज्ञान का कर्ता कोई नहीं होता, वह स्वयंप्रकाश है। प्रकाशका दर्शन होता है। प्रकाश देखने वाले को 'ऋषि' कहते हैं। (ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः)। इसके ऋषि 'नारायण' हैं। अर्थात् कोई ऐसा व्यक्ति जो नरकी सेवा (भक्ति) मे स्वयं 'नारायण' बन चुका है अपना नामरूप खो चुका है। कुछ लोग इसका ऋषि 'दध्यङ् आथर्वण' को मानते हैं। यही 'मधुविद्या' के द्रष्टा हैं (बृ. २।५।१६-१७) 'ईशावास्य' भी सब उपनिषदोंका 'मधु' है ही; अतः यह कल्पना भी ठीक ही बैठती है। दधीचि ऋषि जैसे त्यागमूर्ति के मुखसे "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" सुननेमें विशेष स्वारस्य है। देवता 'परमात्मा' है। छन्द अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् हैं, किन्तु मुक्त हैं। तेरह मंत्र अनुष्टुप् छन्दमें हैं और पाँच मंत्र त्रिष्टुप् छन्द में कुल मंत्र संख्या १८ हैं। इनमें से ८ वां और १६ वां प्रसारित त्रिष्टुप् हैं।

दूसरी बात—किसी विषय को त्रिकों, द्विकों और एककों में विभक्त करके विवेचन करनेकी वेदोंकी पद्धति है। यहां भी तीन-तीन मंत्रों के पांच त्रिक, दो मंत्रोंका एक द्विक और एक मंत्रका एक एकक है। अर्थात् अठारह मंत्रों के सात विभाग किये गये हैं। प्रत्येक मंत्र दूसरे मंत्र से एक विशेष आकांक्षा से गुंथा गया है और सबमें ईश्वर-भक्ति (सेवा) रूपी अखण्ड धागा पिरोया हुआ है।

शांति-मंत्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवा वशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अर्थ—ॐ । वह पूर्ण है । यह पूर्ण है । पूर्ण से पूर्ण निष्पन्न होता है । पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें तो भी पूर्ण ही शेष (बाकी) रहता है ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शिष्य—क्या यह मंत्र इस उपनिषद्का नहीं ? यदि बाहरका है तो यहां देने की क्या आवश्यकता पड़ी ?

गुरु—उपनिषदों में आये हुए शांति-मंत्र उपनिषदों के बाहर ही माने जाते हैं । यह मंत्र भी 'ईशावास्य' के बाहर का है । शांति-मंत्र उपनिषद् के आदि और अंत में पढ़ना होता है । आदि में श्रद्धा से और अन्त में समाधानसे । यद्यपि अध्ययन के अनुकूल चित्तवृत्ति तैयार करना इसका उद्देश्य है, फिरभी इसमें मानो ईशावास्य का सारा सार ही कह दिया है । आरंभ में ही हमें उसका दर्शन हो जाता है ।

शिष्य—तीन बार 'शांति' कहनेका मतलब ?

गुरु—दैहिक, सामाजिक और संसारिक शांति के लिए अथवा कायिक, वाचिक और मानसिक शांति के लिए तीन बार 'शांति' शब्दका उच्चारण किया है।

शिष्य—'पूर्ण में से पूर्ण निकला, जिसमेंसे निकला वह भी पूर्ण और जो निकला वह भी पूर्ण' यह कैसी पहेली ?

गुरु—पहेली नहीं सचाई है । एक दीपक से कितने ही दीपक जलालो सब-के-सब पूरे ही रहेंगे । एक फोटो के कितने ही फोटो

खीच लो सब पूरे ही होंगे। मनुष्य में से मनुष्य निकला है, वह भी पूरे-का-पूरा, नाक की जगह आंख या आंख की जगह नाक नहीं ठीक वैसा ही जैसा मनुष्य है।

शिष्य—कभी कभी देखने में आता है कि सुन्दर सुडौल और पूरे व्यक्ति के भी लूला-लंगड़ा और अधूरा बच्चा पैदा हो जाता है।

गुरु—तुमने कैसे जाना कि वह बच्चा उसीका है किसी दूसरे का नहीं।

शिष्य—उसकी मां कहती है जो परम साध्वी है।

गुरु—बाहर से शरीर स्थूल होने पर भी उसके वीर्य में कमी हो सकती है। खान-पान या किसी बाह्य दृश्य का भी गर्भस्थ बच्चे पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। पूर्ण बीज होने पर भी जल-वायु-जमीन की पूर्ण अनुकूलता न मिलनेसे वह पल्लवित, पुष्पित और फलित नहीं हो सकेगा। पर भगवान तो पूर्ण ही नहीं परिपूर्णतम हैं। परिपूर्णतम की कृतिमें अपूर्णता कैसे हो सकती है। क्या तुम पृथ्वी-जल-तेज वायु-आकाश मे कुछ अपूर्णता बता सकते हो? पंच भूतों से बनी वस्तुओं (केला-नारंगी-सेब आदि) में क्या कुछ न्यूनता तुम्हें दिखाई देती है? इसलिए जगदीश्वर की महान् कृति यह जगत् भी परिपूर्णतम है।

शिष्य—क्या आप यह विषय इससे भी अधिक स्पष्ट करके समझा सकते हैं?

गुरु—भगवत्-कृपा से क्या कुछ नहीं हो सकता। देखो भगवान् का आदि नाम 'प्रणव' है। इसके दो खंड होते हैं 'प्र' और 'नव'। इसका अर्थ है पुरातनपुरुष होते हुए भी प्रणव=नित्यनूतन। एक इसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है प्र=बड़ी, नव=संख्या [तस्य वाचकः प्रणवः] प्रणव=अर्थात् ॐ। इसका बिलकुल उल्टा रूप नव-संख्या का अंक (९) (६) है। कहीं कहीं एक संख्या के अंक का उल्टा नव संख्या का अंक देखने में आता है; यथा (१) (६) अब हम

नव की संख्या पर विचार करते हैं कि वह पूर्ण है या नहीं? उसमें से निकलने वाली संख्या पूर्ण है या नहीं? और बाकी बची संख्या पूर्ण है या नहीं? आदि आदि।

एक से लेकर नौ तक संख्या लिखो—(१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९) और जोड़ो ४५ होंगे, चार और पाँच नौ (९)। अब नौ की संख्या दो बार लिख कर जोड़ो—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
२ ४ ६ ९ १ ३ ५ ७ ८

अब योग के अंक जोड़ो ४५ होंगे—चार और पाँच नौ (९) अब नौ की प्रतिलोम संख्या ऊपर रख कर उसमें से अनुलोम नौ की संख्या घटाओ—

९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १ = ४५–४+५=९,
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ = ४५–४+५=९,
८ ६ ४ १ ९ ७ ५ ३ २ = ४५–४+५=९,

अब तीनों को जोड़ो—१ ९ ७ ५ ३ ० ८ ६ ४ २ = ४५–४+५=९,

३६–३+६=९,

नौका पहाड़ा— १– ९=९
२–१८–१+८=९,
३–२७–२+७=९,
४–३६–३+६=९,
५–४५–४+५=९,
६–५४–५+४=९,
७–६३–६+३=९,
८–७२–७+२=९
९–८१–८+१=९,

पन्द्रहा यंत्र

६	१	८
७	५	३
२	९	४

१५
३

४५=४+५=९,। किसी प्रकार देखो नौ का अंक पूर्ण ही होगा।

शिष्य—गणित के अनुसार क्या यह संसार भी 'पूर्ण' सिद्ध किया जा सकता है?

गुरु—क्यों नहीं। 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' ये १६ **स्वर** हैं। "क' से लेकर 'म' तक २५ वर्ण और 'य र ल व श ष स ह' ये आठ वर्ण। सब मिलाकर ३३ व्यंजन हुए। जो जो स्वर या व्यंजन जिस जिस संख्या पर आता है उसकी वही संख्या लिखो फिर उसका योग करो। **स्मरण रहे**—अकारकी संख्या नहीं लिखनी। यह केवल व्यंजनों के उच्चारण के लिए है-'ककारादिषु अकार उच्चारणार्थः' 'नाचर्क विना व्यंजनस्योच्चारणं सम्भवति' (महाभाष्यम्)। पहले 'संसार' शब्द ही लो-(स्-अं-स्-आ-र्-अ) 'स्' की संख्या ३२, 'अं' की १५, 'स्' की ३२, 'आ' की २ 'र्' की २७ और 'अ' की संख्या नहीं लेनी। क्योंकि वह उच्चारणार्थ है।

संसार	जगत्	हरि
३२	८	३३
१५	३	२७
३२	१६	३
२	२७, २+७=९,	६३, ६+३=९,
२७		
१०८, १+८=९,		

ब्रह्म	माया	सीता	राम
२३	३२	३२	२७
२७	२	४	२
३३	२	१६	२५
२५	३६, ३+६=९,	२	
१०८ १+८=९,		५४ +	५४=१०८, १+८=९,

राधिका—कृष्ण

राधिका	कृष्ण
२७	१
२	७
१६	३१
६	१५
१	
२	

५४ + ५४=१०८, १+८=९,

गीतोक्त ब्रह्मकर्म ९, भक्ति के भेद ९, यज्ञ-सूत्र के तन्तु ९, देह के द्वार ९, सांख्योक्त जगत् कार्यलक्षण ९, (हेतुमद् अनित्यम् अव्यापि॰) रा. च. मा. मंगलाचरण की चौपाइयां ९, निधि ९, पुराण १८, (१+८=९) उपपुराण, स्मृतियां, उपस्मृतियां, गीता के अध्याय, पांडव सेना के वीरों के नाम, स्थित-प्रज्ञ के लक्षण-श्लोक, भगवान् के प्रियमंत्र के नामाक्षर, ये सब अठारह अठारह ही हैं। भागवत के श्लोक १८ हजार, महाभारत के पर्व १८, म. भा. युद्ध १८ दिन तक, अक्षौहिणी १८,। एक अक्षौहिणी की संख्या—

२ १ ८ ७ ० ०–(हाथी) १८, १+८=९,
२ १ ८ ७ ० ०–(रथ) १८, १+८=९,
६ ५ ६ १ ०–(घोड़े) १८, १+८=९,
१ ० ९ ३ ५ ०–(पैदल) १८, १+८=९,

७२, ७+२=९,

'ईशावास्य' उपनिषद् के मन्त्र भी १८ अठारह ही हैं।

शिष्य—गुरुदेव! कृपा करके यह बतलाइए कि इस १८ की संख्या को इतना महत्त्व क्यों दिया गया। ९ की संख्या का महत्त्व तो समझा। यद्यपि १+८=९ ही होते हैं फिर भी नौ की संख्या न देकर १८ की संख्या क्यों दी?

गुरु—वत्स ! भारतीयों के प्रत्येक नाम और रूप की कल्पना में भी जीवनोपयोगी रहस्य निहित रहते हैं। यहाँ उनका वर्णन करना विषयान्तर हो जायगा। किसी दूसरे समय पर इस पर भी चर्चा हो सकेगी। अस्तु

गीता के सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में भगवान्‌ने अपनी आठ प्रकार की 'प्रकृति' का वर्णन किया है। जैसे

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह मेरी आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति है और

"अपरा इयम्, इत स्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥"

इससे अलग एक मेरी परा प्रकृति है जो एक ही प्रकार की है और जो समस्त जगत् का धारण कर रही है, जिसका नाम है 'जीव' अपरा प्रकृति का बोधक आठका अंक और परा प्रकृति का बोधक एक का अंक, छोटी संख्या बड़ी संख्या से पूर्व बोली और लिखी जाती है, जैसे दो–चार (२–४) दस–बीस (१०–२०)। इसी प्रकार यदि हम प्रकृति की संख्या लिखें तो १–८ लिखी जायगी और बीचकी लकीर निकाल दी गई, बन गये १८ अठारह, १+८=९, पूर्ण का पूर्ण।

शिष्य—प्रकृति की ही संख्या के आधार पर गीताध्याय आदि की संख्या क्यों रखी गई?

गुरु—इसलिए कि यदि तुम प्रकृति के पंजे से छूटना चाहते हो तो ऊपर कहे हुए अठारह पर्व-अध्यायवाले महाभारत–गीता आदि ग्रन्थों का मनन करो और इन्हें जीवन में उतारो।

शिष्य—भगवान् रामने दिनके बारह बजे और भगवान् कृष्ण ने रात के बारह बजे जन्म क्यों लिया ?

गुरु—भगवान् राम सूर्यवंशी थे और भगवान् कृष्ण चंद्रवंशी थे। सूर्य दिन के बारह बजे पूर्ण होता है और चंद्रमा रातके बारह बजे।

शिष्य—क्या 'राम' पूर्णावतार थे ? लोग तो उन्हें १२ कला' अवतार कहते हैं।

गुरु—तू लोगों की बात मानेगा या शास्त्रों की। वेद कहता है कि 'पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते' इस सिद्धान्त से तो सभी पूर्ण सिद्ध हो जाते हैं। भगवान् राम तो पूर्ण ही नहीं परिपूर्णतम थे।

शिष्य—भागवत में लिखा है कि—

"अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"

गुरु—यह भागवत की भाषा है जो बिलकुल ठीक है। सबकी भाषा (बोली) भिन्न भिन्न होती है। एक पूरा रुपया लेकर किसी बनिये से पूछो। वह कहेगा रुपया पूरे १६ सोलह आनों का है और उसी रुपये को सुनार के यहां ले जाओ, वह कहेगा रुपया (१२) बारह माशों का है। चन्द्रकी सोलह कलाएं होती हैं इसलिए चंद्रवंशी कृष्ण के लिए सोलह कलासम्पूर्ण ही कहना ठीक है और सूर्यकी बारह राशियां या बारह मास होते हैं, इसलिए सूर्यवंशी राम के लिए बारह-कलासम्पूर्ण कहने में ही विशेष स्वारस्य है।

शिष्य—कुछ लोग कहते हैं कि स्त्री ओंकार का उच्चारण नहीं कर सकती। यहां तो "ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्" लिखा है ?

गुरु—वह स्त्री बहरी होगी। जो बहरा होता है वह बोल नहीं सकता चाहे वह स्त्री हो, चाहे मनुष्य।

शिष्य—नहीं नहीं। कहते हैं कि स्त्री को ॐ कार के उच्चारण करने का अधिकार नहीं।

गुरु—यह अधिकार किसने छीन लिया ? ब्रह्मा ने या कुछ लोगों ने यदि कुछ लोगों ने छीना है तो यह उनके शिर पर पाप होगा

अधिकार की बात कहाँ है। यह तो कण्ठ की अपूर्णता है। जो स्त्रियों को प्रकृति माताकी ओरसे मिली है। अन्यथा इन्हें भी दाढ़ी–मूछ मूडनेके लिए मनुष्यों के समान सफ्टीरेजर रखना पड़ता। दाढ़ी–मूछ ही मनुष्य के पूर्णकंठता की सूचक है, जैसे मोरको पूँछ। मोरनी के पूँछ नहीं होती, इसलिए वह मोरके समान 'केका' नहीं कर सकती। सिंहनी के अयाल नहीं होता। इसीलिए वह सिंह के समान गर्जना नहीं कर सकती। चतुर्थवर्ण के लोग भी मर्दानी गर्जना नहीं कर सकते। क्योंकि उनका भी कंठ अपूर्ण है। मैं तो कहता हूँ कि गर्ज ना हो तभी गर्जना हो सकती है। गर्जमन्द ही शूद्र है।

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

अर्थ—ॐ। जगत् में जो [redacted] जीवन है, वह ईश्वर का बसाया हुआ है। इसलिए उसके नाम से त्याग करके तू यथाप्राप्त भोगता जा। किसीके धन के प्रति वासना न रख।

शिष्य—"जगत् में जो कुछ जीवन है, वह ईश्वर का बसाया हुआ है" यह कैसे?

गुरु—ईश्वरने नहीं बसाया तो और किसने बसाया है? हम–तुम तो इसके बसानेवाले हो नहीं सकते। क्यों कि हम सर्वज्ञ नहीं और सर्वशक्तिमान् नहीं। ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् है। पहले उसने अव्यक्त, अव्यक्तसे महत्तत्व, महत्तत्वसे अहन्तत्व, अहन्तत्वसे सूक्ष्मभूत, सूक्ष्मभूतों से महाभूत। अर्थात्–क्रमश आकाश–वायु–तेज जल–पृथ्वी बसाई। आकाश में केवल शब्द गुण, वायु में शब्द–स्पर्श दो गुण, तेज में शब्द–स्पर्श–रूप तीन गुण, जल में शब्द–स्पर्श–रूप–रस चार गुण और पृथ्वी में शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध पांच गुण बसाये। इन गुणवालों की प्राप्ति के लिए वाणी, हाथ, पांव, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियें बसाईं। ज्ञानेन्द्रियों के बिना

गुरु—भले मानम; जिसने रहने के लिए पृथ्वी दी, पीने के लिए पानी दिया; देखने के लिए तेज दिया, जीने के लिए हवा दी और बोलने के लिए आकाश दिया। क्या उस अकारण करुणानिधि के प्रति हमारा कुछ भी कर्तव्य नहीं? है, अतः दरिद्रनारायण के लिए त्याग करके ही यथाप्राप्त भोगता जा। "**दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्**" ईश्वर को धन मत दो, उसके आत्मीय दरिद्रों का पालन करो।

शिष्य—'यथाप्राप्त' की क्या आवश्यकता है। जैसे भी हो सकेगा धन इकट्ठा करूंगा। स्वयम् भी उड़ाऊंगा और कुछ उसमें से गरीबोंको भी दे दिया करूंगा।

गुरु—ना, ऐसा करना अन्याय है। अन्याय के अन्न से तन पुष्ट होता है, मन दुष्ट होता है, आत्मा असंतुष्ट होता है, परमात्मा रुष्ट होता है और अन्तमें सर्वस्व प्लुष्ट (स्वाहा) होता है। इसलिए '**त्यक्तेन भुंजीथाः**।' अर्थात् त्यागका नाम ही भोग है, नहीं तो भोग महा-रोग है। मान लो, मेरे पास लाखों मन अन्न है और मैं प्रतिदिन लाखों कमाता हूं। पर प्रकृतिमाताकी ओरसे मुझे पाव भर अन्न ही भोगने के लिए मिलेगा। इससे अधिक अन्न और धन मेरे लिए महा-रोग बन जायगा। यदि मैं इस समस्त अन्न और धन का उपयोग करना चाहूँ तो मुझे चाहिए कि जिन्हें अन्न की आवश्यकता है, उनमें उसे मुक्त हाथसे बांट दूं। इसीका नाम वस्तुतः भोग है, नहीं तो रोग है।

मेरी समझमें यहां 'भुंजीथाः' का अर्थ भोग नहीं। क्योंकि भोग तो हम नीची पशु आदि योनियों में भी भोगते ही आ रहे हैं और देव आदि योनियों में भी भोगेंगे ही। क्योंकि वे सभी योनियां भोगयोनियां हैं। मनुष्ययोनिके लिए भोगकी विधि नहीं है

शिष्य—'क' नाम प्रजापतिका है। इसका कोई बढ़िया उदाहरण दीजिए।

गुरु—इसके तो अनेकों उदाहरण हैं। पर मैं तुम्हें एक व्याकरण से सम्बन्ध रखनेवाला उदाहरण सुनाता हूँ। सुनो, किसी मित्रने एक नायिकाकी ओर संकेत करके प्रश्न किया—

"दृश्येयं गुणहीना कथय सखे! को हेतुः?"

उत्तर मिला "किं मां वयस्य पृच्छसि यदुत्तरं प्रश्न एव ते।"

प्रश्न—"यह दृश्या=सुन्दर तो है, पर इसमें कोई दूसरा गुण नहीं, कहो इसका क्या कारण है?"

उत्तर—"मुझसे क्या पूछ रहे हो, जो तुम्हारा प्रश्न है वही इसका उत्तर है" 'को हेतु' क=विधाता, हेतु=कारण है।

प्रथम मित्र—नहीं नहीं, मेरा यह भाव नहीं। मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि यहाँ 'दृश्या' कैसे बन गया। 'दृश' धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय होने पर गुण होना चाहिए। अर्थात् 'दर्श्या' बनना चाहिए।

दूसरा मित्र—मुझ से क्या पूछ रहे हो, जो तुम्हारा प्रश्न है वही इसका उत्तर है। 'को हेतु' गुण न होनेका कारण 'क' है। अर्थात् यहां 'ण्यत्' प्रत्यय नहीं 'क्यप्' है, कित् होने से गुण का निषेध हो गया।

शिष्य—थोड़े में इस मन्त्रका सार कह दीजिए?

गुरु—यह मन्त्र ही समस्त वैदिक धर्मका सार है। (१) ईश्वर की सत्ताका स्वीकार करना (२) स्वयं त्यागवृत्ति से जीवन व्यतीत करना और (३) दूसरोंकी भोगवृत्ति के प्रति ईर्ष्या न करना। अर्थात् स्वात्मा, परात्मा और परमात्मा सम्बन्धी कर्त्तव्य कैसे होने चाहिए। यदि एक ही वाक्य में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि नीति से प्राप्त करे, रीति से उपयोग करे और प्रीतिसे दान करे'।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

अर्थ—इह लोक में कर्म करते-करते ही, सौ साल तक जीने की इच्छा करे । तुझ देहवान् के लिए यही मार्ग है । इससे भिन्न मार्ग नहीं । मनुष्य से कर्म नहीं चिपकता, फल-वासना चिपकती है ।

शिष्य—'**जिजीविषेत् शतं समाः**' सौ-साल तक जीने की इच्छा करे । यह विधि कैसी ? क्योंकि जीनेका अभिनिवेश तो सभी में रहता ही है ।

गुरु—खरी बात । यहां जीनेकी इच्छाकी विधि नहीं, किन्तु कर्म करने की विधि है कि 'कर्म करते-करते ही सौ-वर्ष तक जीवे' । क्योंकि कर्मयोग ही जीवन है और अकर्मण्यता मृत्यु । परिश्रम ही परमात्मा है और आलस्य ही पिशाच । परिश्रम ही स्वर्ग है और आलस्य ही नरक । परिश्रम ही पुण्य है और आलस्य ही पाप । परिश्रमी ही देवता है और आलसी ही दानव, एवं कर्मयोगी है सच्चा मानव ।

शिष्य—इह=इस लोकमें । ऐसा क्यों कहा ?

गुरु—ठीक तो कहा । जिसका ऐहिक जीवन है पवित्र, उसका पारलौकिक जीवन भी पवित्र । यों कहो कि पारलौकिक जीवनका है ऐहिक जीवन चित्र । जैसे हम इस लोक में होंगे वैसे ही परलोक में । परलोक का चित्र हमारे अन्दर होता है । प्रत्येक व्यक्ति एकान्त में बैठकर उस फिल्मका दर्शन कर सकता है । यदि वह फिल्म काली होगी तो काला लोक मिलेगा और यदि वह सफेद होगी तो प्रकाशमान लोक मिलेगा । जो जो कर्म हम जान-बूझकर करते जाते हैं उन उन कर्मोंका चित्र हमारे मन पर उतरता रहता है । जैसा होगा मन वैसा मिलेगा तन, जैसा होगा तन वैसे मिलेंगे जन,

जैसे मिलेंगे जन वैसा ही होगा उत्थान और पतन। यही बात भगवान् कपिल, माता देवहूति के प्रति कह रहे हैं कि

"अत्रैव नरकः स्वर्गः इति मातः ! प्रचक्षते।"

अर्थात्—हे माँ! 'यहां ही नरक और स्वर्ग है' ऐसा शास्त्र कहते हैं।

शिष्य—हम कुछ लोगों की आयु सौ–वर्ष से ऊपर की भी देखते हैं! वेद तो केवल सौ–वर्ष ही आयुका परिमाण मान रहा है। यह कैसे ?

गुरु—**श्री विनोबाजी** लिखते हैं कि 'जैसे नींबूका सैकड़ा १२० का, रत्तलों का ११२ का, और नाम–स्मरण का १०८ का मानते हैं, उसी तरह आयुर्मान का सैकड़ा ११६ बरसका मानें–ऐसी शिक्षा श्री कृष्णको घोर आंगिरसने दी है जो (छां० ३।१६) उपनिषद् में आयी है। उस योजनामें पहले २४ बरस अध्ययन के, बीचके ४४ बरस कर्मयोग के और अन्त के ४८ बरस चिन्तन के माने गये हैं।" (ईशावास्य-वृत्ति, पृष्ठ १८)

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी लिखते हैं कि

"शतका अर्थ केवल १०० वर्ष इतना ही नहीं। 'इच्छा' प्रौढ मनुष्य करता है। बालक या युवक इच्छा करने में और उसे प्रभावी बनाने में असमर्थ ही है। ८ वर्षका बालपन और उसके पश्चात् १२ वर्षका ब्रह्मचर्य, अर्थात् विद्याध्ययनकी आयु मिलकर २० वर्ष होते हैं। इस बीसवें वर्ष मनुष्य विद्वान् और अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से अपना भविष्य बनानेवाला होता है। अत ये २० वर्ष और १०० वर्ष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी आयु मिलकर १२० वर्षकी आयु होती है! २० वर्ष होने पर सौ वर्ष मैं जीऊंगा और उससे पहले नहीं मरूंगा ऐसी इच्छा मनुष्य कर सकता है। इस तरह मानवी आयु १२० वर्षकी है। फल-ज्योतिष जन्मपत्री जो बनाते हैं वे विंशोत्तरी (१२० वर्ष आयु) मानकर

करते हैं। दूसरा गणित अष्टोत्तरी (१०८ वर्षकी आयु) मानकर किया जाता है। इस तरह १०८ या १२० वर्षकी आयु सामान्यतः ज्योतिषमें मानी है। इसलिए १०० वर्षकी आयु अपनी हो ऐसी इच्छा मनुष्य तरुण बनकर करे यह इस मंत्र द्वारा कहा है।" (आत्मज्ञान-ईशोपनिषद् पृष्ठ १७१)

शिष्य—इस विषयमें आप भी अपना बाबाशाही कुछ अनुभव सुनानेकी कृपा कीजिए?

गुरु—सुनो, जैसे आजकल हमारी औसत (सामान्य) आयु २४ वर्ष की मानी जाती है, वैसे ही वैदिक कालकी औसत आयु सौ-वर्षकी मानी जाती होगी। मैं तो समझता हूँ कि यह हमारी आयु की गारंटी है। जैसे तीन वर्षकी गारंटीवाली घड़ी वर्षों वर्ष चलती रहती है। वैसे ही सौ-वर्षकी गारंटीवाली आयु भी हजारों वर्ष तक पहुँच सकती है। इसीलिए पुराणोंमें बहुत लंबी-लंबी आयु का वर्णन मिलता है। यह समस्त आयु कर्म करते-करते ही व्यतीत होनी चाहिए। स्मरण रहे—विज्ञानने यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि जितने समयमें प्रकृतिके नियमानुसार जिस प्राणी के अवयव पूर्ण होते हैं, उससे कम-से-कम पांच गुना अधिक उसकी आयु होती है। यथा—

घोड़ा पांच वर्ष में पूर्णावयव होता है और उसकी आयु भी ३० वर्ष की होती है। कुत्ता ढाई वर्षमें पूर्णावयव होता है, उसकी आयु भी १४ वर्ष की होती है। ऊंट आठ वर्षमें पूर्णावयव होता है, उसकी आयु ४० वर्षकी होती है। बरगद सैंकड़ों वर्षोंमें पूर्णावयव होता है, अतः उसकी आयु हजारों वर्षों की होती है। मनुष्य २५ वर्षमें पूर्णावयव होता है, अतः उसकी आयु भी १२५ वर्ष होनी चाहिए।

शिष्य—कहते हैं कि 'कर्म' तो बंधन का कारण है? बंधनमें पड़ने की क्या आवश्यकता है?

गुरु—यदि 'कर्म' बाँधने की शक्ति रखता है तो छोड़नेकी भी रखता ही होगा। जो बाँध सकता है वह छोड़ भी सकता है। गाठ लगाना भी कर्म है और गाठ खोलना भी कर्म। देहधारी के लिए कर्म के बिना दूसरा कोई मार्ग ही नहीं। क्योंकि कर्म छोड़ना भी कर्म ही हो जाता है। न करना भी एक प्रकारका कर्म ही है। इसलिए '**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति**'—तुझ देहवान् के लिए यही मार्ग है, इससे भिन्न मार्ग नहीं। अर्जुन भी कर्म न करने की बात चला रहा था। भगवान्ने यहां का 'त्वयि' शब्द उठाकर कहा कि '**नैतत् त्वयि उपपद्यते**' अर्थात्–तेरे लिए ऐसा कहना ठीक नहीं। इस 'त्वयि' तुकारमें कितनी आत्मीयता है–कितनी वत्सलता है! मानो माँ अपने लाडले बेटसे कह रही हो। कि तू मेरा लाल है। जो इस 'तू' में मजा है वह 'आप मेरे लाल हैं' के 'आप' में कहां?

दूसरी बात—'**न कर्म लिप्यते नरे**'=मनुष्यम कर्म नहीं चिपकता। कारण कि 'कर्म' जड़ है। जड़ वस्तु चेतनसे चिपक नहीं सकती। हां, चेतन ही उसे चिपका ले तो वह दूसरी बात है। 'कर्म' हम करते हैं न कि 'कर्म' हमें करता है। घोड़ेको हम चलाते हैं, घोड़ा हमें नहीं चलाता, क्योंकि हम 'नर' हैं=कर्म के नेता हैं। भगवान् कहते हैं कि '**न मां कर्माणि लिम्पन्ति**' (गी ४। १४) कर्म मुझमें चिपकते नहीं। क्योंकि '**न मे कर्म-फले स्पृहा**' मेरी कर्म–फल में स्पृहा नहीं। 'स्वार्थ' के लिए किया हुआ कर्म भाररूप होता है, 'परार्थ' के लिए किया हुआ कर्म भाररूप नहीं।

शिष्य—'लिम्पन्ति' का भार अर्थ कैसे हो सकता है?

गुरु—'लिप्' का अर्थ ही भार है ('लिप्' उपदेहे, उपदेहो,=वृद्धि) देह पर लादा हुआ। जब देह पर कोई वस्तु हम लाद लेते हैं तो उसका भार होता ही है। इसीका 'लेपन' बनता है जिसका

अर्थ 'पोतना' होता है, अर्थात् मिट्टी पर मिट्टी चढ़ाना।

शिष्य—क्या कोई ऐसी युक्ति है, जिससे 'कर्म' भाररूप न बन सके?

गुरु—हाँ, है। 'कर्म को 'विकर्म' बना दो अर्थात् जो कर्म करते हो उसमें मन मिला दो। 'कर्म' में 'मन' के मिल जाने पर 'विकर्म' बन जाता है। भार शरीरको नहीं लगता मनको लगता है। जब किसी कर्म में हमारा मन नहीं लगता तभी वह 'कर्म' हमें भाररूप प्रतीत होता है। दो परीक्षार्थी प्रश्नपत्र निकाले रहे हैं। तीन घंटेका समय है। जिसे प्रश्नों के उत्तर आते हैं, वह धड़ाधड़ लिखना आरम्भ कर देता है। उसके लिए तीन घंटेका समय आध घंटे के समान लगता है। परन्तु जिसको याद नहीं, वह बारबार घड़ीकी ओर देखता है, घड़ीकी सूई खड़ी-सी प्रतीत होती है। उस बेचारेका समय ही नहीं बीत रहा। कभी 'टक्-टक्' करके पानी मँगवाता है और कभी पेशाबके बहाने बाहर जाता है। समय को उसकी परवाह ही नहीं, क्योंकि समयकी उसने परवाह नहीं की। मन उसको काम में नहीं लगने देता, क्या कि उसने मनको कर्ममें नहीं लगाया।

एक विद्यार्थी विद्यालय में विलम्बसे पहुँचा। अध्यापकने उसे सौ उठ-बैठ लगानेका दण्ड कर दिया। वह बेचारा उठ-बैठ कर रहा है। टेढ़ी दृष्टिसे अध्यापककी ओर भी घूरता जाता है। मानो भूखा सिंह शिकारकी ओर घूर रहा हो। पासमें दूसरा एक पहलवान दण्ड पेल रहा है। कल इसने एक हजार दण्ड पेले थे। आज ग्यारह सौ पेलने की ठनी है। दोनों का काम पूरा हो गया है। एकके मुख पर भार के कष्टकी रेखा दिखाई दे रही है और दूसरेके मुख पर सफलता की प्रसन्न रेखा। कर्म एक ही है। पर एकका मन कर्म में नहीं लगा था और दूसरेका लगा था। जिस का मन कर्मसे बाहर था, उसके मन को भार ने पकड़ लिया और जिसका मन

कर्म में लगा हुआ था, उसके मनको भार नहीं पकड़ सका। क्योंकि मन कर्ममेंसे बाहर निकले तो पकड़ा जाय।

अब महावीर माता जानकीजी की खबर लेकर भगवान् रामके पास आये तो भगवान् पूछते हैं कि—

“ ऐ हो हनू ! कहौ रघुबीर,
कहूं सुधि है सिय की छिति माहीं ?
है प्रभु, लंक कलंक बिना,
सो तहां बस रावन बाग की छाहीं ॥
जीवत है ? कहवेईको नाथ !,
सो क्यों न मरी मोंसो बिछुराहीं ?
प्राण बसैं पद-पंकजमें,
यम आवत है, पर पावत नाहीं ॥ ”

भले तुम इसे कवि की कल्पना ही मानो, पर है कितनी अच्छी कल्पना ! बुरी कल्पनासे विद्यार्थीको दुःख हुआ और अच्छी कल्पनासे पहलवानको सुख। दोनोंकी क्रिया तो एक ही प्रकारकी है। कल्पना करना है मन का काम। या कल्पना ही मन है।

शिष्य—इसके आगे भी कर्मकी कोई अवस्था है ?

गुरु—हां, 'विकर्म' करते-करते हम 'अकर्म' अवस्थामें पहुँच जायेंगे। जहाँ पहुँच जाने पर 'विकर्म' भी 'अकर्म' बन जायगा। हम सब कुछ करते हुए भी 'अकर्ता' ही रहेंगे। हमारा कर्तापन का अभिमान ही गल जायगा। अभिमान उसी कर्मका होता है जो कर्म हमसे कभी-कभी हुआ करता है। हम श्वास निरन्तर लेते रहते हैं। अतः 'मैं निरन्तर श्वास लेता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं होता। निरन्तर काम करनेसे कर्मका अभिमान नहीं रहता। पर आसक्ति तो शेष रह ही जाती है। श्वास लेनेका अभिमान भले न हो पर 'आसक्ति' अवश्य है। कोई हमारा श्वास बंद करदे तो तड़-फड़ने लग जायेंगे। यह

आसक्ति भी 'कर्म'को जनता-जनार्दनकी सेवामें समर्पित कर देनेसे दूर हो जाती है-मिट जाती है। इसी लिए भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—"कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्"।

शिष्य—ज्ञानी के लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता होती है?

गुरु—आवश्यकता नहीं होती। पर कर्म से तो कोई छूट ही नहीं सकता "नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माणि अशेषतः"। पर कर्म करनेकी विधि भिन्न-भिन्न है-कर्मयोगी गंगाकी तरह कर्म करता है और ज्ञानी हिमालयकी तरह।

अर्थात्—पशुके कर्म में क्रियाकी प्रधानता होती है, मनुष्य के कर्म में भावकी प्रधानता होती है और ज्ञानीके कर्म में ज्ञानकी प्रधानता होती है या ज्ञान ही ज्ञान होता है।

स्मरण रहे—कर्मयोगका स्पष्ट प्रतिपादन करनेवाला गीतासे पहले का ऐसा वचन दूसरा नहीं मिलता।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

अर्थ—आत्मज्ञान से शत्रुता करनेवाले जो कोई आत्मघातकी जन हैं। वे देह-पात के बाद, गाढ़ अन्धकार से घिरी हुई आसुरी कही जानेवाली योनि की ओर मुड़ते हैं।

शिष्य—'आत्महन जनाः' का क्या अर्थ है? आत्मा का तो नाश नहीं होता, फिर ऐसा क्यों लिखा?

गुरु—आत्महन=अविद्वांसोऽबुधा जना, ऐसा अर्थ बृहदारण्यक (४।४।११) में दिया है। जो पहले मंत्र में आई शिक्षाको नहीं मानते वे 'अविद्वान्' और जो दूसरे मंत्र में आई शिक्षाको नहीं मानते वे 'अबुध' जन हैं। अर्थात् नर से नारायण बन सकते थे। पर वे केवल 'जन' ही रहे-'जन्तु' ही रहे। मनुष्य जन्मका उद्देश्य तो आत्मज्ञान था। पर इन नासमझोंने वह हाथ से खो

दिया। उलटे चक्र में पड़ गये। अब न जाने कब यह सुअवसर हाथ लगेगा। यद्यपि आत्मा का नाश नहीं होता, तो भी जैसे हम, बुद्धि-नाशसे 'आत्मनाश' बोल देते हैं वैसी ही यह भाषा है। अर्थात् यह औपचारिक प्रयोग है। क्योंकि बुद्धिके गुणों के अनुसार आत्मा के विषय में भी ऐसा बोल दिया जाता है।

"तद्‌गुणसारत्वात् तु तद्‌व्यपदेशः" (ब्र. सू. अ. २।३।२९)

शिष्य—ऐसे भक्तिहीन, भोगपरायण, लोभी, अकर्मण्य मनुष्योंकी मरने के बाद क्या दशा होती है?

गुरु—वही दशा होनी है जो होनी चाहिए। न तो बेचारे वे जड़ सृष्टिमें लीन हो सकते हैं, क्योंकि वे चेतन हैं और न वे ईश्वर में लीन हो सकते हैं। क्योंकि वे आत्मज्ञानी नहीं—आत्महत्यारे हैं। तीसरा एक ही मार्ग बाकी रह जाता है जो कुछ-कुछ जड़ भी हो और कुछ-कुछ चेतन भी। इसे 'गीता' मूढयोनि कहती है, पुराण 'पापयोनि' कहते हैं और यहां 'अन्धेरे से घिरी योनि' कहा है। ऐसी योनि पशु-योनि ही हो सकती है जो कुछ-कुछ चेतन भी है और कुछ-कुछ जड़ भी। यही है 'आसुरी योनि' जिसका वर्णन गीताके १६ वें अध्याय में किया गया है।

शिष्य—मूल में तो 'आसुरी योनि' का नाम तक भी नहीं आया?

गुरु—क्यों नहीं आया? आया है। 'असुर्याः' इसके स्थान पर बृहदारण्यक (४।४।११) में 'अनन्दाः' और कठ० (१।३) में भी यही शब्द पाया जाता है। पर कहीं कहीं 'असूर्याः' पाठान्तर भी देखने में आता है, जिसका अर्थ है-सूर्यरहित-दर्शनरहित-अर्थात् तमसावृत। यहां 'लोक' शब्द योनिके अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'लोक' का अर्थ 'प्रकाश' है, पशुयोनि में भी कुछ-न-कुछ प्रकाश रहता ही है। इसलिए इसका अर्थ श्री विनोबाजीने 'आसुरी योनि' किया है।

शिष्य—क्या कोई इससे भिन्न दूसरा अर्थ भी करते हैं?

गुरु—हां, करते हैं। श्री सातवलेकरजीने–'असुर्या' का अर्थ "प्राणियों को प्राणशक्ति देनेवाले देवकी प्राणशक्ति" किया है।

(असु=प्राण, र=देनेवाला, असुर=परमात्मा, उसकी शक्तिका नाम 'असुर्य'। यह सभी के बलोंका आधार है)

शिष्य—इनमें से कौनसा अर्थ अच्छा है?

गुरु—जो तुम्हें रुचे। वस्तुतः यह प्रश्न मेरे अधिकारसे बाहर का है। इसलिए मैं घट–बढ़ नम्बर नहीं लगा सकता।

शिष्य—'अभिगच्छन्ति'का भाव क्या है?

गुरु—उस योनि की ओर अभिगच्छन्ति=मुड़ते हैं। भाव यह है कि जो किसी ओर जा सकता है वह उस ओरसे मुड़ भी सकता है। जो गिर सकता है वह उठ भी सकता है। वह उठता क्यों नहीं–गिरता ही क्यों जाता है? इसलिए कि वह भगवान् की ओर मुड़ा नहीं। भगवान् की ओर मुड़ा कि काम बना। अभि-गच्छन्ति=अभिमुखाः गच्छन्ति। भगवान् कहते हैं कि जो मेरी ओर एक कदम आता है मैं उसकी ओर चार कदम बढ़ता हूँ, जो मुझे अपनी अंगुली पकड़ाता है, मैं उसका हाथ पकड़ता हूँ, जो मुझे हाथ पकड़ता है, मैं उसकी भुजा पकड़ता हूँ, और जो मुझे भुजा पकड़ता है, मैं उसे गले लगाता हूँ। इसलिए वह तबतक गिरता ही जायगा जबतक ईश्वरकी ओर नहीं मुड़ता।

निष्कर्ष—इस त्रिक में सम्पूर्ण जगत् के जीवन का 'दर्शन' आ गया है। पहले मंत्र में **ईश्वरनिष्ठा**, दूसरे में उसके अनुसार **कर्मयोगनिष्ठा** और तीसरे में दोनों निष्ठाओं से रहित आत्महत्यारी **आसुरी वृत्ति**। यही है त्रिविध जगत्।

शिष्य—इस विषय में अपनी भी कुछ प्रसादी दीजिए?

गुरु—मेरी प्रसादी कुछ नहीं। हां सन्तोंकी प्रसादी दे सकता हूँ। लो, सुनो—इसीको चौरासी-लाख योनि कहते हैं। यही लक्ष-चौरासी का चक्र है जो आत्मज्ञान से ही छूटता है। चौरासी-अंगुल का यह शरीर जिसका लक्ष्य है वह इस चक्रमें है। इसी शरीर से हम इस चौरासी के चक्रमें से निकल सकते हैं। इस लिए हमारा जीवन भोग के लिए नहीं किन्तु त्याग के लिए है। भोग इस लिए भोगना है कि हम दूसरोंकी कुछ सेवा कर सकें। इसी में शरीरकी सार्थकता है। यही असारमेंसे सार निकालना है। यह सूत्र सदा ध्यान में रखो "जीवनार्थम् अन्नम्, नान्नार्थं जीवनम्" जीवन के लिए अन्न है, अन्न के लिए जीवन नहीं। जीवन तो सेवा के लिए है।

पुराणों में—२१ लाख उद्भिज्ज, २१ लाख स्वेदज, २१ लाख अंडज और २१ लाख जरायुज ' योनियां आती हैं। कहीं कहीं यह संख्या घटा-बढ़ा कर भी लिखी हुई मिलती है।

तीसरा प्रकार इस तरह है—

१. अव्यक्त स्थिति,
२. व्यक्त स्थिति,
३. व्यक्त की द्वन्द्वात्मक स्थिति,
४. पंच महाभूतों का प्रादुर्भाव,
५. पंच महाभूतों का परस्पर संघर्ष,
६. हिरण्यगर्भ,
७. सूर्य,
८. पृथ्वी,
९. पृथ्वी में जीवनशक्ति,
१०. उलटी सृष्टि,
११. आड़ी सृष्टि,
१२. खड़ी सृष्टि,
१३. ज्ञान-कर्म-विहीन मानव,
१४. ज्ञानविहीन कर्मयुक्त-मानव,
१५. ज्ञान-कर्म-युक्त मानव,
१६. बाल-अवस्था,
१७ किशोर-अवस्था,
१८ तरुण-अवस्था,
१९. प्रौढ़-अवस्था,
२० वृद्ध-अवस्था,
२१ जीर्ण-अवस्था,

प्रत्येक कोटि में चार काल–उत्तमकाल, मध्यमकाल, अधमकाल और इन का संधिकाल। २१ को ४ से गुना करो २१×४=८४ चौरासी हुए। जीव एक एक ज्ञानेन्द्रिय को लेकर पाँच चक्र लगाता है। चक्रका आकार गोल होता है। अतः चौरासी पर पाच शून्य लगादो। क्योंकि यह सर्वत्र शून्य ही शून्य पाता है। =८४००००० में हुई चौरासी लाख योनियां। गुलोकसे चलकर जीव वहीं आ जाता है जहांसे चला था।

यह जीव चलता–चलता उद्भिज्जसे स्वेदज में आया स्वेदज में से अंडज में आया, अंडज में से जरायुज में आया, और पशुओंमें से मनुष्य–योनि में आया। आगे की योनि देव है। यह हमारी स्वाभाविक गति है। अर्थात् मनुष्यजीवन पशुयोनि और देवयोनि के मध्यका स्टेशन है। यदि हम मनुष्य के बाद देव बने तो यह हमारा बढना हुआ और यदि मनुष्यसे पशु बने तो यह हमारा मुडना हुआ। यह बिलकुल ठीक अर्थ है कि "आत्महत्यारे लोग अन्धकारसे घिरी हुई आसुरी कही जाने-वाली योनि की ओर मुडते हैं।"

वस्तुतः जब हम किसी पूज्य व्यक्तिका कहा नहीं मानते तो यह उस व्यक्तिकी हत्या ही होती है। प्रतिदिन हमारा आहार चार रोटियां है। पर जब घरमें मिठाई बनी हो तो हम उससे दुगुना–तिगुना ठूंस लेते हैं। अन्तरात्मा ऐसा करने से मना करती है। पर हम ठूंसते ही जाते हैं, यह हुई 'आत्म–हत्या'। इसका कारण है मिठाईका लोभ। इस लिए भगवान् वेदने कहा कि "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" तुम किसी के हिस्सेका अन्न खा रहे हो, त्याग करो। जब हम किसी दूसरे की वस्तु पर अशास्त्रीय तरीके से अधिकार जमाना चाहते हैं तब अन्तरात्मा (ज़मीर) कहती है कि ऐसा मत करो, यह अन्याय है–पाप है। पर हम विषयातुर होने के कारण अंतरात्माका कहा नहीं मानते। यह दूसरी आत्महत्या है। इस के निषेध के लिए वेदने आज्ञा दी कि "मा गृधः कस्य स्विद् धनम्" यहाँ 'धन' शब्द का अर्थ वस्तु है; अर्थात् किसी की वस्तु पर अधिकार मत जमाओ। जब हम से कोई

भूल होती है तो अन्तरात्मा पहले से ही हमें सावधान करता रहता है। पर हम उसकी एक न मानकर अकर्तव्य कर ही बैठते हैं। यदि शास्त्र हमें 'आत्महत्यारे' कह डालें तो रुष्ट नहीं होना चाहिए। प्रत्युत उपकार मानना चाहिए। आगे के लिए अन्तरात्मा की आवाज सुननी चाहिए।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। ४॥

अर्थ—वह आत्मतत्त्व एक ही एक, बिलकुल चलन-वलन न करनेवाला किन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है। देव उसे पकड़ नहीं सकते उल्टा उसने ही देवों को, कभी से पकड़ रखा है। दूसरे दौड़ने वालों को वह खड़ा-खड़ा ही पीछे छोड़ जाता है। प्रकृति माता की गोद में, खेलनेवाला प्राण उसीकी सत्ता पर हलचल करता रहता है।

शिष्य—'अनेजदेकम्' यह किसका वर्णन है?

गुरु—यह वर्णन तीसरे मन्त्र में आये हुए 'आत्म-तत्त्व' का, अथवा पहले मन्त्रमें आये हुए 'ईशतत्त्व' का है। ईश और आत्मा में तत्त्वतः कुछ भेद नहीं। यह बात १६ वें मन्त्र में बताई जायगी। यह तत्त्व वही है जिसे ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म न स्त्री है और न पुरुष। इसीलिए इस मन्त्र में उसका नपुंसक लिंग शब्दोंसे निर्देश किया है।

शिष्य— वह बिलकुल चलन-वलन नहीं करता और मनसे भी अधिक वेगवान् है यह कैसे? तर्कशास्त्र की दृष्टिसे स्थिति और गति का एक ही स्थान पर होना सर्वथा असम्भव है। तम और अन्धकार की एकत्र स्थिति कैसे?

गुरु—यह बिलकुल ठीक है तर्कशास्त्र की वहां तक गति नहीं। इसलिए तर्क की भूमिका से आगे चलना होगा। अर्थात् वितर्क से काम लेना होगा। जहाँ तर्क नहीं पहुँच सकती वहां 'वितर्क' पहुँचती है। तर्क क्या वस्तु है? इन्द्रिय-सहकृत चमत्कार-पूर्ण युक्ति ही न। ये इन्द्रियें स्वयं अपना ही ज्ञान नहीं करा सकतीं। कानसे कान का, त्वचा से त्वचा का, आंख से आंख का, रसना से रसना का और

नासिकासे नासिका का ज्ञान नहीं होता। फिर कानसे त्वचा–आंख–रसना–नासिका का, त्वचासे आंख–रसना–नासिका–कान का आंख से रसना नासिका–कान–त्वचाका और नासिका से कान–त्वचा–आंख–रसना का ज्ञान कैसे हो सकता है।

शिष्य—यह तो समझ में आ गया कि एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का ज्ञान नहीं करा सकती। पर 'आंख को आंख नहीं देख सकती' यह कैसे ? मैं आपकी आंख देख रहा हूँ।

गुरु—नहीं बेटा ! तुम मेरी आंख नहीं देख रहे, रूप देख रहे हो। ये सभी अतीन्द्रियें हैं। इनका प्रत्यक्ष नहीं होता। एक एक इन्द्रिय अपने अपने गुणका प्रत्यक्ष कराती है, गुणीका नहीं। इन ज्ञानेन्द्रियों की सत्तासे कर्मेन्द्रियें काम करती हैं और ज्ञानेन्द्रियें मनकी सत्तासे काम करती हैं। मन प्राणकी सत्तासे काम करता है और प्राण उस आत्म या परमात्म तत्त्वकी सत्तासे काम करता है। इनके साथ आत्म-तत्त्व की तुलना कभी नहीं हो सकती। इसीलिए 'मनसो जवीयः' से मनको, 'नैनद् देवाः' से ज्ञानेन्द्रियों को, 'अन्यान् अत्येति' से कर्मेन्द्रियोंको और 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' से प्राणको इस तत्त्वकी तुलना के अयोग्य ठहराया गया है।

बहिर्मुख इन्द्रियें उसका पता नहीं लगा सकतीं। अतः इन्हें अन्तर्मुख करना होगा। इन्द्रियों सहित मनका अन्तर्मुख होना ही 'वितर्क' है। इसका दूसरा नाम चित्तवृत्तिनिरोधरूप सम्प्रज्ञात योग है। (योगसूत्र १।१७) यह योग–शक्ति भक्ति से प्राप्त होती है और भक्ति विरक्ति से। स्वार्थका परित्याग ही विरक्ति है और उस एक का बन जाना ही भक्ति है।

शिष्य—इसका इस मंत्र के प्रत्येक पदका अक्षरार्थ कीजिए ?

गुरु—'एकम्'=वह एक ही है, 'अनेजत्'=बिलकुल हिलता–डुलता नहीं, तो भी 'मनसो जवीयः'=मन से भी अधिक वेगवान् है। मन के जव=वेग की मिति (माप) नहीं। वह तीनों काल,

दसों दिशाएँ, अतर् बाह्य सृष्टि, समष्टि और प्रतिसृष्टि में उसकी व्याप्ति है। जब ऐसे ऐसे अनंतों मन उस ईशतत्त्वके एक कोने में ही विलीन हो जाते हैं तो उसके महान् वेगका वर्णन कैसे हो सकता है? । 'नैनत् देवा आप्नुवन्' = देव (इन्द्रियें) इसे पकड़ नहीं सकते। क्यों कि 'पूर्व मर्षत्'=वह वहां पहले ही पहुँचा हुआ है। स्मरण रहे-ब्रह्माण्डकी दिव्य शक्तियों का नाम देव है। यह पिंड ब्रह्माण्डका ही प्रतिबिंब है। इसमें जो ज्ञानेन्द्रियें हैं, वही 'देव' नाम से कही गई हैं। 'इंद्रिय' शब्दका अर्थ ही 'इन्द्र-शक्ति' है। इन्द्र='इद द्रष्टा' (ऐ १।३।१४) ब्रह्माण्ड में जो परमात्मा है, वही पिंड में अन्तरात्मा है। ब्रह्मांड में जो देव हैं वही पिंड में इन्द्रियें हैं। 'तद् तिष्ठत् धावत अन्यान् अत्येति'=वह सदा-सदा ही दूसरे दौड़नेवालोंको पीछे छोड़ जाता है। जहां जहां भी दौड़नेवाले जाते हैं वहा वहा वह पहले से ही विद्यमान होता है। पक्षी कितना भी दौड़े आकाश उससे पहले ही वहां होगा। आकाश कहा दौड़े? वह 'तिष्ठत्'=खड़ा ही रहेगा। पर वह तो आकाश का भी अन्तर्यामी है। मातरिश्वा तस्मिन् अपः दधाति=प्रकृतिमाताकी गोद में खेलनेवाला प्राण तस्मिन्=आत्म सत्ता पर ही हलचल करता है। अर्थात् सर्वत्र गति-सचार करनेवाला प्राण ही ब्रह्म न के अन्तर्गत होकर सभी प्राणियों की तथा सूर्य-चन्द्र आदि देवोंकी भी शक्तिका कारण माना गया है। वह भी आत्माकी सत्ताके बिना कुछ नहीं कर सकता। 'केनोपनिषद्, के प्रथम खंड में इस बातका विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है।

शंका—'अप' शब्द का क्या अर्थ है?

समा—यदि 'अप' को 'अप' शब्द का बहुवचन मानें तो इसका अर्थ 'जल' होगा और यदि 'अपस' शब्द का एकवचन मानें तो इस का अर्थ 'कर्म' होगा। वास्तव में ये दोनों शब्द गत्यर्थक प्राचीन 'अप' धातु से बने हैं। इसलिए यहां वेद के स्वरों के अनुसार 'अप' को बहुवचन मान कर और दोनों कल्पनाओं को मिलाकर

' कर्म-प्रवाद ' ही इसका अर्थ होगा। 'अपो दधाति '=' कर्म-प्रवाह'का निर्माण करता है-आंदोलन करता है।

श्री सातवलेकरजी इसका अन्य प्रकारसे अर्थ करते हैं कि दूसरे मंत्रमें जो सौ-वर्ष तक जीने को कहा है। यह शरीर छूटने पर अन्तिम किये हुए कर्म निष्फल हो जायेंगे ?। इस शंका का यह समाधान है कि **' मातरिश्वा '**=माता के अंदर में रहनेवाला जीव, जिसका पहला शरीर छूट चुका है और दूसरा बन रहा है, वह **' तस्मिन् अपः दधाति '**=उस ब्रह्म के आधार में अपने कर्म धारण करता है। इस मंत्रभाग से पूर्वजन्म की कल्पना अच्छी तरह सिद्ध होजाती है। अथवा **' तस्मिन् अप मातरिश्वा दधाति '**-इस ब्रह्मको कर्म समर्पित करते हुए जो जीव कर्म करता है (वह पापमें बध्द नहीं होता) ' न कर्म लिप्यते नरे '

" ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा ॥ " गीता ५।१०

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।५॥

अर्थ—वह हल-चल करता भी है और वह वह हल-चल नहीं भी करता। वह दूर भी है और वह पास भी। वह इन सबके भीतर भी है और वह इन सबके बाहर भी।

शिष्य—इन मंत्रों में इस तत्त्व की सर्वशक्तिमत्ता वर्णित हुआ है। इसके लिए ' भौतिक ' शरीर की आवश्यकता ही नहीं। यदि वह बिना ही शरीरके चल नहीं सकता तो सर्वशक्तिमान् ही कैसा। उपनिषद् में ' अपाणिपादो जवनो ग्रहीता ' (श्वेता० ३।१८) आदि कहा है और रामायण में— " बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ विधि नाना। "

आदि से उसीका अनुवाद किया है। क्यों ठीक है गुरुदेव ?

गुरु—ऐसा मान लेने में भी कुछ हानि प्रतीत नहीं होती। यद्यपि

"वह हलचल करता भी है और वह हलचल नहीं भी करता।"से उसकी सर्वशक्तिमत्ता ही दिखाई देती है। तो भी इसका अर्थ 'यहाँ "स्थिर और चर दोनों वही है" इस प्रकार व्याप्तिसूचक करना चाहिए। यह अर्थ गीताके निम्न लिखित समानार्थक श्लोक से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है—

"बहिर् अन्तश् च भूतानाम् अचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥" (१३-१५)

दूरता और निकटता दो प्रकार की होती है। एक देशकृत और दूसरी कालकृत। सभी भाषाओं में ऐसा ही अर्थ लिया जाता है। जब हम कहते हैं कि अमुक गाव से अमुक गाव दूर है, तब यह देशकृत दूरता होती है, और जब हम कहते हैं कि अभी दिवाली बहुत दूर है तब यह कालकृत दूरता कही जायगी। इसी प्रकार निकटता भी समझ लेनी चाहिए। निकटता और दूरता दोनों ही अपरिमेय हैं—इनका माप ही नहीं हो सकता। जिस व्याप्ति में इन दोनोंकी अपरिमेयता भी विलीन हो जाती है उस व्यापकता तो कहना ही क्या। एवं अंदरका देखनेवाला (द्रष्टा) और बाहर दिखनेवाला (दृश्य) इन दोनों रूपों में वही परमात्म-तत्त्व सजा हुआ है। जब भीतर-बाहर, पास-दूर, चर-अचर रूपसे परमात्मा ही भरा हुआ है, तब 'यह मेरा, यह पराया,' 'यह अंतरंग यह बहिरंग,' आदि भेद किस लिए? अतः हम (मंत्र ४-५ मिला कर) ईश्वरकी १ एकता, २ निष्कम्पता, ३ वेगवत्ता, ४ सर्वाधारता, ५ चराचरमयता ६ देशकाल-व्यापिता, ७ द्रष्टृ-दृश्य-स्वरूपता का ध्यान करें, गान करें और अनुभव करें।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥

अर्थ—जो आत्मा में ही समस्त भूत और समस्त भूतों में आत्माको निरन्तर देखता है, वह फिर किसीसे ऊबता नहीं।

शिष्य—इसका समानार्थक श्लोक गीता में भी आया है—

"सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः।" (६।१६)

'आत्मा में ही समस्त भूत और समस्त भूतों में आत्माको देखनेवाला ऊबता नहीं' यह कैसे ?

गुरु—यह उपनिषद् गीताकी जननी है। यह बात यथासमय बता दी जायगी। अब सुनो ऊबने की बात। ऊबनेका अर्थ है अकुलाना= व्याकुल होना। हम व्याकुल क्यों होते हैं? इसीलिए कि अमुक वस्तु मुझे मिलनी ही चाहिए। ऐसा क्यों होता है स्वार्थके कारण। स्वार्थ क्यों होता है? रागसे। राग क्यों होता है? अज्ञान से। अज्ञान क्या है? उस वस्तुको अपने से भिन्न जानना। जब हम 'आत्मामें सब भूत' ऐसा कहते हैं तो विशुद्ध **'आत्मार्थ'** सिद्ध हो जाता है और जब हम 'सब भूतोंमें आत्मा' ऐसा कहते हैं तो व्यापक **'परार्थ'** सिद्ध हो जाता है। दोनों ही प्रकार से हीन और संकुचित स्वार्थका उच्छेद हो जाता है। स्वार्थका उच्छेद होने पर **'आत्मौपम्य'**का जन्म होता है

'आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥ गी. ६।३२

शिष्य—कृपया यह बात किसी दूसरी भाषासे पुनः समझाइए ?

गुरु—विचारकी दृष्टिसे 'आत्मा में समस्त भूत' यह 'संश्लेषण' है और समस्त भूतों में आत्मा' यह 'विश्लेषण' है।

"यदा भूतपृथग्भाव मेकस्थ मनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म संपद्यते तदा॥ (गीता १३–३०)

अर्थ—जिस क्षण पुरुष सब भूतों को एकमें ही स्थित देखता है और उसी एक में से सब भूतोंका विस्तार देखता है उसी क्षण वह 'ब्रह्म' बन जाता है (देर नहीं लगती)।

उपासना की दृष्टि से 'आत्मा में सब भूत' यह 'विस-

र्जन ' है और ' सब भूतों में आत्मा ' यह ' आवाहन ' है । पहले आवाहन किया जाता है और बाद में विसर्जन। सृष्टि-शास्त्रकी भाषा में आवाहन ' को ' उत्पत्ति ' और ' विसर्जन ' को ' प्रलय ' कहेंगे।

आचारकी दृष्टिसे ' आत्मा में सब भूत ' यह विशुद्ध ' **आत्मार्थ** ' है और ' सब भूतों में आत्मा ' यह व्यापक ' **परार्थ** ' है।

शिष्य—' सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव ' में ' एव ' से क्या सूचित किया है ?

गुरु—एवकार से यह सूचित किया है कि विश्लेषणसे संश्लेषणका, आवाहन से विसर्जन का और परार्थ से आत्मार्थका अधिक महत्व है। इसलिए विश्लेषणका संश्लेषण में, आवाहनका विसर्जन में और परार्थ में पर्यवसान करना चाहिए।

शिष्य—' आत्मन् ' शब्दकी क्या व्युत्पत्ति है ?

गुरु—पूर्व आचार्यों ने ' आत्मन् ' शब्दकी व्युत्पत्ति चार प्रकार से की है। यथा—" **यदाप्नोति यदादत्ते, यच्चात्ति विषयानिह ।**

यच्चास्य संततो भावः, तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥ "

' **आप्** ' व्याप्तौ, ' **आ+दा** ' आदाने, ' **अद्** ' भक्षणे, ' **अत्** ' सातत्यगमने-इस प्रकार ये चार व्युत्पत्तियां हैं।

शिष्य—क्या कोई आधुनिक आचार्य ऐसा नहीं मानता ?

गुरु—हां, आचार्य विनोबाजी भावे ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि " मुझे ये सभी व्युत्पत्तियां काल्पनिक मालूम होती हैं। इनमें से अंतिम व्युत्पत्ति वास्तविकता के कुछ निकट कही जा सकती है। वास्तव में मेरे मतसे ' आत्मा ' शब्द ' आत् ' धातु का रूप है। ' आत् ' पूर्ववैदिक धातु है। इसका संस्कृत में लोप हो गया है। पर ज्ञानेश्वरीकी मराठी में ज्यों-का-त्यों और तामिल आदि भाषाओं में यह धातु अपभ्रंश रूप में प्रगट हुआ है। ' आत् ' का भूत-कृदन्त ज्ञानेश्वरी की भाषा में ' आतला ' होता है। ' आत् ' का अर्थ मूलतः ' अस् ' और ' भू ' के बीचका है। यद्यपि अर्थ

भेद का आगे लोप हो गया है, तो भी विचार दृष्टि से वह महत्त्व का है। 'अस्' याने केवल होना '—निर्गुण 'भू' याने 'विविध भाव–युक्त होना '—सगुण। 'आत्' याने 'हो सकनेवाला होना' बीचकी स्थिति, सगुण–गर्भ निर्गुण। 'आत्मन्' का साथी 'भूमन्, एक परमात्म–वाचक शब्द उपनिषदों में आता है। दोनों का स्थूल–रूप से एक ही अर्थ है। बारीकी से देखें तो 'भूमन्' विशेषण सगुण है 'भू' धातु से आया है। इसे ध्यान में रखने से यह सूक्ष्म भेद स्पष्ट हो जाता है। 'भूमन्' शब्दकी व्युत्पत्ति 'बहु + इमन्' इस तरह पाणिनिने बताई है। इसका कारण, यह पूर्व वैदिक धातु 'आत्' पाणिनिको, संभव है, ज्ञात न हो। ज्ञात होता तो उन्हें 'आत् + मन्=आत्मन्, तथैव 'भू + मन्= भूमन्' यह सूझता। इसके अभाव में उन्हें 'अणिमन्' 'गरिमन्' आदि वर्ग में 'भूमन्' को बिठानेकी व्यवस्था करनी पड़ी है। संभवतः उपनिषदों में भूमन् शब्द जहां आया है; वहां वह अल्प के विरोधी के रूपमें उपस्थित किया गया है और इसी कारण पाणिनिको ऐसा करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई हो। परन्तु 'भूमन्' 'भू' धातु से लगाने से, विश्वरूप परमात्माका वाचक होता है। फिर विश्वरूप में बहुत्व आ ही जाता है। कि बहुना, 'बहु' शब्द मूल में 'भू' धातु का ही रूप है। इसकी ओर ध्यान देने पर तनिक भी कठिनाई नहीं रहती। परन्तु अस्मन्=निर्गुण, आत्मन्=सगुण–निर्गुण, भूमन=सगुण, इस तरह का भेद निरूपणके लिए किया जाय, तो भी अन्त में उन सबको भुलाकर "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इतना ही रटना है; यही इसके आगे के मंत्र का और सारे ईशावास्य का सार है।"

शिष्य—'न विजुगुप्सते' का क्या भाव है?

गुरु—जुगुप्सा नाम है ऊबनेका। जब हम किसीसे ऊब जाते हैं तब हम उसकी निन्दा करने लगते हैं या उसका तिरस्कार कर बैठते हैं

अथवा उससे घृणा आदिका व्यवहार करते हैं । परन्तु विजुगुप्सा तो इससे भी सूक्ष्मतम वृत्तिका नाम है 'गुप्' धातुका अर्थ है, रक्षाकरना 'सन्' का अर्थ है इच्छा, और 'वि' का अर्थ है बिलकुल। इसका अक्षरार्थ हुआ कि 'स्वयको अलग रखनेकी छिपानेकी वृत्ति'। ततो न विजुगुप्सते-फिर वह अपनेको किसीसे दूर या अलग बिलकुल नहीं रखता । क्योंकि "सब भूतों में मैं और मुझ में सब भूत" ऐसा विशालतम मातृ-हृदय उसे मिल जाता है। क्या माँ अपनी सतान से ऊबती है ? मा क्यों खाती है ? अपने बच्चेकी पुष्टि के लिए । बच्चेको भूख मा को लगती है न कि बच्चेको । बीमार बच्चा होता है और उसका दर्द होता है माता के हृदय में । क्यों कि मा बच्चे में अपनेको देख रही है और अपने में बच्चे को । यहाँ ऊबने-घबानेका प्रश्न ही कैसा । ऊबा जाता है किसी दूसरे से यहा बाह्य द्वैत रहने पर भी हृदयमे अद्वैत हो गया है। राम को 'वनवास' मिला, जगलमे रातो भर जागते रहे लक्ष्मण। लक्ष्मण को शक्ति लगी, गहरी उतर गई-घाव हो गया । पर उसकी पीडा हुई राम को 'वेदना राघवेन्द्रस्य, केवलं व्रणिनो वयम्'। लाठी पड़ती है बैल पर उसकी रेखाएँ उभर आती हैं ज्ञानेश्वरके तन पर। गरीबों के पेट में अन्नके दाने नहीं जाते, पर सूखते जाते हैं विनोबाजी । बीमार पड़ते हैं विनोबाजी, उनके स्वास्थ्यके लिए प्रार्थना की जा रही है घर घर, इसका नाम है मातृहृदय जो भक्तों के यहा सदैव रहता है। गीता कहती है कि-'**यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।**" (१२-१५) *जिससे लोग नहीं ऊबते और जो लोगो से नहीं ऊबता* वह भगवान्का प्यारा भक्त है।

'ततो न विजुगुप्सते' के स्थान पर 'ततो न विचिकित्सति' एक पाठान्तर है। उसका अर्थ है-फिर उसे किसी प्रकारका सशय नहीं रहता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसकी दृष्टिसे आत्मा ही सर्वभूत हो रहा है। उस निरन्तर एकत्व देखनेवाले, विज्ञानी पुरुषको, मोह कहाँ और शोक कहाँ?

शिष्य—'आत्मा ही सर्वभूत हो रहा है' यह तो आपने कहा। पर 'सब भूत आत्मा हो गये' ऐसा दूसरे कुछ लोग कहते हैं। इन दोनों में कुछ अन्तर है?

गुरु—'आत्मा का सब भूत होजाना या सब भूतोंका आत्मरूप हो जाना' बात तो एक-सी ही है। परन्तु पिछले मंत्र में आत्मा की व्यापकता बताते समय 'आत्मा में सब भूत और सब भूतों में आत्मा' ऐसा आधार-आधेयभाव दिखाई दे रहा है। इस वाक्यके पूर्वार्ध को 'संश्लेषण' और उत्तरार्धको 'विश्लेषण' कहा है। फिर 'एव' कार से संश्लेषणकी महिमा भी दिखा दी गई। जब हम 'में' के स्थान पर 'ही' रख कर दोनों की एकता कर देते हैं। तब 'आत्मा सब भूत हो गया या सब भूत आत्मा हो गये' ऐसा कहेंगे। पहला 'संश्लेषण' है और दूसरा 'विश्लेषण'। 'संश्लेषण' का आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक महत्त्व होने के कारण यहां 'संश्लेषण' ही (आत्मा ही सब भूत हो गया) लेना ठीक है।

दूसरे—व्याकरणकी दृष्टिसे भी यही अर्थ युक्तियुक्त है। कारण कि 'अभूत' क्रिया एकवचनान्त है। इसका कर्ता आत्मा ही है भूत नहीं। माना कि अब आत्मा और भूतों में भेद नहीं रहा, तो भी 'सब भूत आत्मा हो गये' ऐसा नहीं बोल सकते। क्योंकि व्याकरणका नियम है—

"प्रकृते विकृते चापि, ह्येकदा प्रतिपादने।
गृह्णाति प्रकृतेः संख्याम्, आख्यातं विकृते नंतु ॥"

अर्थात्—जब प्रकृति और विकृतिका एक साथ वर्णन किया जाता है; तब आख्यात (क्रियापद) प्रकृति की संख्या के अनुसार आता है

विकृति की संख्या के अनुसार नहा (प्रकृति एक हो तो एकवचन, दो हों तो द्विवचन और बहुत हों तो बहुवचन) जैसे–'मृद् घटा भवन्ति' अर्थात्—मिट्टी घड़े होती है। यहा 'मृत्' प्रकृति है और 'घटा.' विकृति। यदि घड़ोंको प्रकृति मानेंगे और मिट्टी को विकृति, तो 'घटा मृद भवन्ति' अर्थात् 'घड़े मिट्टी होते हैं' ऐसा बोला जायगा। यहा भी 'आत्मा भूतानि अभूत्' है 'भूतानि आत्मा अभवन्' नहीं। अत ऊपर दिया हुआ अर्थ ही युक्तियुक्त है।

शिष्य—'आत्मा मे समस्त भूत देखना' और 'आत्माका समस्त भूत हो जाना' में कुछ भेद तो नहीं दिखाई देता। फिर इस मंत्रकी आवश्यकता ही क्या पड़ी?

गुरु—वास्तव में ये दोनों हैं तो एक ही। पर यह आशंका हो सकती है कि माताका हृदय ऊबता तो नहीं, पर उसे मोह तो हो ही सकता है। यह आशंका दूर करने के लिए ही इस मंत्रकी आवश्यकता पड़ी। अपने आप पर प्रेम होता है और दूसरे पर मोह। यहा तो 'द्वैत' रहा ही नहीं—एकता हो गई। हुआ तो प्रेम ही होगा मोह नहीं।

सूक्ष्मदृष्टि से विचारें तो ऐसा कुछ भय ही नहीं। क्योंकि छठा मंत्र भक्ति-(प्रेम)—परक है, उसमें **ओतप्रोतता** की भाषा का प्रयोग हुआ है और यह मंत्र ज्ञान-परक है, अतः इसमें **एकता** की भाषाका प्रयोग हुआ है। हैं दोनों एक ही चीज। जहां ओत प्रोतता संकुचित होती है, वहा ही मोह हो सकता है। जैसे–माकी ओत-प्रोतता अपने बच्चों तक ही सीमित रहती है, वह असीम (विश्वव्यापी) नहीं होती। विश्वव्यापी ओतप्रोतता में यह दोष नहीं आता। इसलिए छठा मंत्र भी निर्भय है और यह तो है ही। व्यापकतम ओतप्रोतता का नाम ही निर्द्वन्द्व एकता है।

शिष्य—'आत्मा एव सर्वाणि भूतानि' और 'ईशावास्य मिदं सर्वम्' में क्या अन्तर है?

गुरु—कुछ नहीं। 'आत्मा एव सर्वाणि भूतानि' यह आत्म-ज्ञानकी भाषा है और 'ईशावास्य मिदं सर्वम्' यह भक्तिकी भाषा। अन्तर मानना हो तो बस इतना ही है।

शिष्य—'ज्ञान' और 'विज्ञान' में क्या अन्तर है?

गुरु—बुद्धि से जान लेना ज्ञान है और जीवन में उतार लेना विज्ञान। इसके बाद उस ज्ञानको आचरण से, कृतिसे, आत्मसात् कर लेने पर वही विज्ञान हो जाता है।

"बोद्धा (ज्ञाता) भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति"
(छां० ७।८।१)

शिष्य—पिछले तथा इस मंत्र में क्रमशः 'अनुपश्यति' और 'अनुपश्यतः' कहा है। इसका क्या तात्पर्य है?

गुरु—'अनु' का अर्थ है निरन्तर-सतत। कभी कभी साधकको बिजलीकी चमक-जैसा क्षणिक दर्शन हो जाता है। वह 'प्रातिभ' दर्शन है। उसीमें ही साधकको संतोष मानकर बैठे नहीं रहना चाहिए। यह तो आश्वासन मात्र है। जबतक 'अनुदर्शन'=सूर्यके समान निरन्तर दर्शन, नहीं हो जाता तबतक संसारका क्षय होनेका नहीं। इसलिए 'अनुदर्शन' तक अभ्यास चालू ही रहना चाहिए।

"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशित मात्मनः।
तेषाम् आदित्यवत्, ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् (गी. ५।१६)

अर्थात्—जिनका अज्ञान ज्ञानसे नष्ट हो चुका है, उन्हें वह ज्ञान सूर्यके समान प्रकाश देता रहता है।

'एकत्व मनुपश्यतः' एकता का यह निरन्तर दर्शन तबतक कभी नहीं हो सकता, जबतक अनेकताका दर्शन हो रहा है। क्यों कि एकता और अनेकताका पारस्परिक विरोध है। जबतक यह विरोध रहेगा तबतक समाधि और व्युत्थानका क्रम चलता ही रहेगा। ऐसी दशा में मोह और शोक होते ही रहेंगे। अपने स्वरूपको, भूल कर किसी दूसरी वस्तुको अपना मान लेना ही मोह है और माने हुए, उस

इष्ट पदार्थका वियोग होने पर जो मानसिक दशा होती है, वही शोक है। मोह और शोक दोनों सगे भाई हैं। सङ्कुचित आत्मीयता से मोह पैदा होता है और वही मोह देह-वियोग आदि अवसरों पर शोक का कारण बन जाता है। परन्तु व्यापक आत्मीयता देहकी गठरी उठाते हुए नहीं हो सकती। इसलिए इस गठरीको किनारे रखकर ही व्यापक आत्मीयता का लाभ करना चाहिए। यही बात आगे के मन्त्र में स्पष्ट की जायगी।

शिष्य—इस मन्त्रके मोह और शोक शब्द से तो गीताकी आख्यायिका ही आंखोंके सामने खड़ी हो जाती है। अर्जुन 'शोक-संविग्न-मानसः' बन गया है। क्यों कि वह 'धर्म-संमूढ-चेताः' है।

गुरु—हां, यह तो पहले ही बता दिया गया है कि यह उपनिषद् गीता की जननी है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम् अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर् मनीषी परिभूः स्वयम्भूर् याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच् छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अर्थ—वह उस तेजस्वी, देहरहित, इसलिए व्रण आदि देह-दोषोंसे और स्नायु-आदि देह-गुणोंसे सर्वथा अलिप्त, शुद्ध और पाप-वेधमुक्त, ऐसे आत्मतत्त्वको चारों ओर से घेरकर बैठ गया। वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी, वशी, व्यापक और स्वतन्त्र हो गया। उसने शाश्वतकाल तक टिकने वाले, सर्व अर्थ यथावत् साध लिये।

शिष्य—गुरुदेव, यह आत्माका वर्णन है न!

गुरु—नहीं, यह आत्माका वर्णन नहीं, 'आत्मज्ञ' का वर्णन है। 'स' कर्ता, 'शुक्रम्' कर्म, और 'पर्यगात्' क्रियापद है। दूसरी बात यह है कि पिछले दो मंत्रों में 'आत्मज्ञ' का वर्णन है; उसके साथ इसकी एक वाक्यता भी हो जाती है।

शिष्य—कृपया इन विशेषणों का भावार्थ सुनाइए?

गुरु—'अपापविद्धम्' का भाव है आत्मा पर पाप का वेध नहीं

चलना। किन्तु इन्द्रियाँ आदि पर ही चलना है। इसका विवरण बृहदारण्यक की एक आख्यायिका में किया गया है (देखो, बृ० ३।१ मन २।७) बृहदारण्यक उपनिषद् ईशावास्य का एक भाष्य ही है। 'शुक्रम् अकायम्' आदि शब्दों में क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ का स्वरूप प्रदर्शित किया है। म्यान से तलवार खींचने की तरह देहमें आवेष्टित आत्म-तत्व को सूक्ष्मबुद्धि और धैर्यसे खींच लेने पर उसका अमर तेज प्रकट होता है। (कठ० ६। १७)

आत्मज पुरुषको यहां 'कवि' की अन्वर्थ संज्ञा दी है। कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी (निरुक्त)। क्रान्तदर्शी=पारदर्शी–देहका परदा हटाकर जो उस पार देख सकता हो। ऐसे पारदर्शी कवियों में 'आत्मज्ञानी' सिरमौर है, "पदवी कवीनाम्" (ऋग्वेद) मनीषी 'मनसः ईष्टे इति मनीषी' वह जो मन पर सत्ता चला सकता है। ईशावास्य ईश्वरकी उपासना सिखानेवाला उपनिषद् है। ईश्वर के उपासक को कम-से-कम अपने क्षेत्र में ईश्वर ही बनना चाहिए। इस मंत्रमें सुझाये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविवेकका भी यही परिणाम अपेक्षित है।

कवि और मनीषी परस्पर-पूरक विशेषण हैं। दर्शन-शक्ति और निरोध-शक्ति दोनों का योग होना चाहिए। उसी की प्रक्रिया अगले दो त्रिकोंमें (मं. ६ से १४) प्रतिपादित की है। गीताने इसके लिए बुद्धि और धृति को मिलाकर एक संयुक्त साधनकी कल्पना की है। एक पतवार, दूसरा डांडा दोनों मिलाकर तरने का साधन प्रस्तुत होता है। (देखो मंत्र १३)

'परि+भू' का 'सर्वोपरि' या 'सर्वनियमकारी' अर्थ किया गया है। परन्तु यह अर्थ लौकिक संस्कृत में होता है। वैदिक संस्कृत के अनुसार 'परिभू =चारों ओर से लपेटकर बैठा हुआ, व्यापक'-ऐसा अर्थ होता है।

परिभू और स्वयंभू परस्पर-पूरक विशेषण हैं। मधुसूदनकी भाषा में 'सर्वपेक्षा' (सर्वसंग्राहक बुद्धि) और 'अनपेक्षा' (अन्य

निरपेक्ष स्वतन्त्र-वृत्ति) दोनों का योग होना चाहिए। पहली आत्माकी **व्यापकता** में से और दूसरी आत्माकी **स्वयम्पूर्णता** में से पैदा होती है।

'याथातथ्यतः' शब्द, विवरण-स्वरूप दिखाई देता है। उसे छोड़ देने से छन्द ठीक हो जायगा। (फिर अनुवाद में से 'यथावत्' शब्द निकाल देना होगा) और अन्तके दो चरणों को इस तरह पढ़ना होगा—

"कविर् मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।
अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥"

अर्थात्—**व्यदधात्**=साध लिया, सम्पादन कर चुका। आत्मज्ञ पुरुष को कुछ भी सम्पादन करना शेष नहीं रहता, शाश्वत काल के लिए पर्याप्त सामग्री उसने जुटा कर रखली है, यह अर्थ होगा। '**नानवाप्तमवाप्तव्यम्**' (गी. ३। २२)

देहातीत होकर जिसने शाश्वत अर्थ-परमार्थ-साध लिया उस में अर्थ-लोभ कहांसे होगा? इसलिए "**मा गृधः कस्य स्विद् धनम्**" यह आज्ञा यहां सहज ही फलित और उन्मूलित हो गई। अर्थात् कृतार्थ होकर कुंठित हो गई।

मंत्र (६–८) के निकष में आत्मज्ञ पुरुष का गुणचरित्र इस तरह वर्णन किया गया है—

१ ओतप्रोत विश्वप्रेम।
२. किसी व्यक्ति से भी और किसी वस्तु से भी अरुचि नहीं, उद्वेग नहीं।
३ विश्वात्म-ऐक्यदर्शन।
४. मोह नहीं, शोक नहीं।
५. विदेह-स्थिति।
६ पारदर्शिता, मनीषा, व्यापकता, स्वतंत्रता।
७ शाश्वत अर्थलाभ।

यदि देहको फाड़कर आत्माको बाहर खींच निकालना है तो उसके लिए साधन तीक्ष्ण और सूक्ष्म चाहिए। आगे के छह मंत्रों में इन साधनों का वर्णन है।

आत्मज्ञ पुरुषके वर्णन में प्रतिभावान् कविके भी लक्षण यहां प्रसंगवशतः, पर सम्यक् रूपसे दर्शाये हैं। जैसे–कवि (१) मनका स्वामी, (२) विश्वप्रेमसे भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत कालपर दृष्टि रखने वाला होता है।

मनन के लिए निम्न-लिखित अर्थ सुझाता हूँ—

१. मनका स्वामित्व=ब्रह्मचर्य, २. विश्वप्रेम=अहिंसा, ३. आत्मनिष्ठ=अस्तेय, ४. यथार्थभाषित्व=सत्य, ५. शाश्वतकाल पर दृष्टि=अपरिग्रह।

शिष्य—आपने तो इस मंत्र में अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, कुछ तो कहिए?

गुरु—विनोबाजीने सब कुछ कह डाला, अब मैं क्या कहूँ। यदि कुछ कहना ही अत्यावश्यक है तो सुनो। शास्त्र में इस सुझाव की संज्ञा "यम" है।

"अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः यमाः"
(योगदर्शन २।३०)।

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥९॥

अर्थ—जो अविद्यामें डूब गये, वे घोर अन्धकारमें चले गये। जो विद्यामें रम गये, वे मानो उससे भी घोर अन्धकार में चले गये।

शिष्य—अविद्या और विद्या शब्दका क्या अर्थ है?

गुरु—इन शब्दोंके अर्थ के सबन्ध में सभी भाष्य-कारोंका मतभेद है। यदि वे सभी अर्थ यहां दे दिये जायँ तो निश्चय के स्थान पर सन्देह ही बढ़ेगा। इसलिए श्रीविनोबाजीकृत अर्थ सुझाता हूँ। विनोबाजीका कहना है कि—अविद्या और विद्या ये दोनों एक ही वस्तु के निषेध (निगेटिव) और ग्रहण (पॉजिटिव) अंग हैं। इसके अनुसार ही

इनके पत्त भी ग्यारहवें मन्त्र में निवृत्त और प्रवृत्त स्वरूप के दिखाये गये हैं। अविद्या याने इष्ट अर्थ में अनधिकृत अनंत ज्ञान प्राप्त न करना। विद्या याने इष्ट अर्थ मे अधिकृत विशिष्ट ज्ञान लाभ करना। इन अर्थो में ये शब्द ईशावास्य के पारिभाषिक हैं।

शिष्य—निवृत्त (निगेटिव) और प्रवृत्त (पॉजिटिव) अंग का क्या मतलब है?

गुरु—जब किसी का फोटो खींचते हैं, उसका जो पहला काला अस्पष्ट फोटो है वह उसका निगेटिव अंग है और जो साफ स्पष्ट फोटो है वह उसका पाजिटिव अंग है। एक ही फोटो के ये दो अंग हैं। इसी प्रकार एक ही वस्तु के अविद्या और विद्या ये निवृत्त और प्रवृत्त दो अंग हैं।

शिष्य—'अविद्या याने इष्ट अर्थ में अनधिकृत अनंत ज्ञान प्राप्त न करना" इसे स्पष्ट कीजिए?

गुरु—मानलो, तुम्हारा इष्ट अर्थ 'आत्म-साक्षात्कार' या 'ईश्वर-प्राप्ति' है। जो ज्ञान तुम्हारे इस अर्थ में सहायक नहीं और तुम्हारे अधिकार से बाहर का है-व्यर्थ है। उस ज्ञान की कोई सीमा नहीं। उसे न प्राप्त करना ही अविद्या है, जो बहुत आवश्यक है। तुमने कितने ऐसे आदमी अवश्य देखे होंगे जो किसी विषय की थोड़ी-सी चर्चा चलाने पर संसार भर का ज्ञान बघार देते हों। मेरे एक बन्धु हैं उनके-भागवत-गीता आदि ग्रन्थ आद्योपान्त कंठाग्र हैं। तुम किसी अध्याय या श्लोक का नाम लो झट बता देंगे। सीधा पाठ करना तो उनके लिए साधारण बात है। यह तो उनका निश्चय पक्का है। पर अभीतक उन्हें 'आत्मदर्शन' या 'ईश्वर-दर्शन' नहीं हुआ। पुस्तकों के सीधे और उलटे पाठ करने से आत्म-दर्शन या ईश्वरदर्शनका क्या सम्बन्ध?। हां, अनावश्यक-पदार्थोंके पाठ करने से यह पाठ अच्छा अवश्य है। पर है तो 'ग्यारं मारः मियां बिना' ही। इससे बुद्धि पर भार पड़ता है, अध्ययनशक्ति

ऋग्वेद के मन्त्रों से जाना जाता है कि इन्द्रने दधीचि को 'मधुविद्या' दी थी। वह विद्या दधीचिने अश्विनी कुमारों को दी। परन्तु ऋग्वेद में इस मधुविद्या का निर्देश कहा भी नहा आता। ऋग्वेद में अश्विनी कुमारों के वर्णनमें दधीचि मुनि का नाम अवश्य आता है। पर वह भी एक द्रष्टा ऋषि के रूपमें नहा। यजुर्वेद के चालीस अध्याय हैं। उनके अन्तिम पांच अध्यायों के ऋषिका नाम 'दध्यङ् आथर्वण' है और उनमें ३६वाँ अध्याय "ऋचं वाचं प्रपद्ये" शान्ति पाठ है। उसके बादके तीन अध्यायों में 'प्रवर्ग्य–विद्या' का वर्णन है। अन्तिम अध्याय 'ईशावास्य' है, इसे ही 'मधुविद्या' समझना चाहिए। इस बात की स्पष्टता यजुर्वेद की टीका शतपथ–ब्राह्मणके अन्तिम काण्ड में हो जाता है, जिसके उत्तरार्ध रूपमें बृहदारण्यक उपनिषद् में ईशावास्यके मन्त्रों का साररूपसे विवेचन किया गया है।

जिस प्रकार साधन–चतुष्टय–सम्पन्न व्यक्ति को ही वेदांत–श्रवणमें वेदांत–सिद्धांत का दर्शन होता है। उसी प्रकार 'मधुविद्या' जानने वाले को भी 'प्रवर्ग्यविद्या' प्राप्त करनी अत्यावश्यक है। दधीचिने भी मधुविद्या के साथ प्रवर्ग्यविद्या सीखी थी। प्रवर्ग्यविद्या का अर्थ है सिर जोड़ने की कला। अश्विनीकुमार इस विद्या के प्राप्त करने से ही यज्ञके भागी बन सके। इसका रहस्य यह है कि यज्ञ के दो भाग हैं, कर्म और ज्ञान। मनुष्य हृदय की भावना के अनुसार कर्म करता है। पर वह मस्तिष्क में स्थित बुद्धि की सहायता नहीं लेता, अर्थात् कर्म का रहस्य नहीं जानता। इसलिए उसके कर्म में बल नहीं आता। प्रवर्ग्यविद्या=मस्तक और धड़को जोड़ना, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म करना। अथर्ववेदमें इसका स्पष्ट निर्देश किया है—

"मूर्धानं मस्य संसीव्य, अथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्, पवमानोऽधि शीर्षतः॥"

(अ० वे० १०।२।२६)।

अथर्वा ऋषि इसके मस्तक और हृदय को सी करके प्राणरूप को

सिर के ऊपर मस्तक तक प्रेरित करता है। कर्म के रहस्य को जानना ही मधुविद्या है—आत्मविद्या है—ब्रह्मविद्या है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी के प्रति जो अमृत–सर्वप्रिय आत्मा का उपदेश करते हैं, उसका इस प्रकरण के साथ पूरा पूरा सम्बन्ध है।

याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि 'हे गार्गि! तू अतिप्रश्न मत कर, कहीं तेरा मस्तक न गिर जाय'। अर्थात् कर्म और ज्ञान, बुद्धि और हृदय का सहकार अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए कहा जो केवल अविद्या (हृदय की भावना) में डूब गये, वे घोर अंधकार में चले गये। जो विद्या (बुद्धिवैभव) में रम गये, वे मानों उससे भी घोर अन्धकार में चले गये। उदाहरण के रूप में उन अंधश्रद्धालुओं को ले सकते हैं, जो अपने धर्म को न माननेवालों की आंख भी निकाल लेते हैं। दूसरे उस हृदय-हीन व्यक्ति को लो जिसने परमाणु बम तैयार किया है, जिसके कारण सब-के-सब एक चैन की सांस नहीं ले रहे। यदि कोई सहृदय व्यक्ति उसे बनाता तो उस से 'सर्वे सुखालिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः' ही होता।

शिष्य—अब मैं समझा कि जैसे बिजली के लट्टू में दो तारें रहती हैं, एक निगेटिव, दूसरी पॉज़िटिव। यदि दोनों में से किसी एक के साथ स्विच का संबंध किया जाय तो प्रकाश नहीं होता। वैसे ही केवल अविद्या या केवल विद्या से प्रकाश (आत्मदर्शन) होनेका नहीं। इसलिए दोनों की ही परम आवश्यकता है। अथवा विनोबाजी के कथनानुसार ये एक ही वस्तु के निवृत्त और प्रवृत्त दो अंग हैं।

आप तो कहते हैं कि यह उपदेश सर्व-साधारण के लिए है। पर सर्व-साधारण के मस्तिष्क में यह बात कैसे बैठाई जा सकती है। जिन शब्दों के अर्थ के विषय में बड़े-बड़े विद्वान् भी चक्र में पड़ गये। इस विषय में सर्व-साधारण जनों की गति कैसे हो सकती है?

गुरु—सुनो, सबकुछ एक ही प्रकारके होते हैं। ये सब अनुभवकी बातें

ऋग्वेद के मन्त्रों से जाना जाता है कि इन्द्रने दधीचि को 'मधुविद्या' दी थी। वह विद्या दधीचिने अश्विनी कुमारों को दी। परन्तु ऋग्वेद में इस मधुविद्या का निर्देश कहा भी नहीं आता। ऋग्वेदमें अश्विनी कुमारों के वर्णनमें दधीचि मुनि का नाम अवश्य आता है। पर वह भी एक द्रष्टा ऋषि के रूपमें नहीं। यजुर्वेद के चालीस अध्याय हैं। उनके अन्तिम पांच अध्यायों के ऋषिका नाम "दध्यङ् आथर्वण" है और उनमें ३६वाँ अध्याय "ऋचं वाचं प्रपद्ये" शान्त पाठ है। इसके बादके तीन अध्यायों में 'प्रवर्ग्य-विद्या' का वर्णन है। अन्तिम अध्याय 'ईशावास्य' है, इसे ही 'मधुविद्या' समझना चाहिए। इस बात की स्पष्टता यजुर्वेद की टीका शतपथ-ब्राह्मणके अन्तिम काण्ड से हो जाती है, जिसके उत्तरार्ध रूपमें बृहदारण्यक उपनिषद् में ईशावास्यके मन्त्रों का साररूपसे विवेचन किया गया है।

जिस प्रकार साधन-चतुष्टय-सम्पन्न व्यक्ति को ही वेदान्त-श्रवणसे वेदान्त-सिद्धान्त का दर्शन होता है। उसी प्रकार 'मधुविद्या' जानने वाले को भी 'प्रवर्ग्यविद्या' प्राप्त करनी अत्यावश्यक है। दधीचिने भी मधुविद्या के साथ प्रवर्ग्यविद्या सीखी थी। प्रवर्ग्यविद्या का अर्थ है सिर जोड़ने की कला। अश्विनीकुमार इस विद्या के प्राप्त करने से ही यज्ञके भागी बन सके। इसका रहस्य यह है कि यज्ञ के दो भाग हैं, कर्म और ज्ञान। मनुष्य हृदय की भावना के अनुसार कर्म करता है। पर वह मस्तिष्क में स्थित बुद्धि की सहायता नहीं लेता, अर्थात् कर्म का रहस्य नहीं जानता। इसलिए उसके कर्म में बल नहीं आता। प्रवर्ग्यविद्या=मस्तक और धड़को जोड़ना, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म करना। अथर्ववेदमें इसका स्पष्ट निर्देश किया है—

"मूर्धानमस्य संसीव्य, अथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्, पवमानोऽधि शीर्षतः॥"

(अ० वे० १०।२।२६)

अथर्व ऋषि उनके मस्तक और हृदय को सी करके प्राणान्तर को

सिर के ऊपर मस्तक तक प्रेरित करता है। कर्म के रहस्य को जानना ही मधुविद्या है—आत्मविद्या है—ब्रह्मविद्या है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी के प्रति जो अमृत–सर्वप्रिय आत्मा का उपदेश करते हैं, उसका इस प्रकरण के साथ पूरा पूरा सम्बन्ध है।

याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि 'हे गार्गि! तू अतिप्रश्न मत कर, कहीं तेरा मस्तक न गिर जाय'। अर्थात् कर्म और ज्ञान, बुद्धि और हृदय का सहकार अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए कहा जो केवल अविद्या (हृदय की भावना) में डूब गये, वे घोर अंधकार में चले गये। जो विद्या (बुद्धिवैभव) में रम गये, वे मानो उससे भी घोर अन्धकार में चले गये। उदाहरण के रूप में उन अंधश्रद्धालुओं को ले सकते हैं, जो अपने धर्म को न माननेवालों की आखें भी निकाल लेते हैं। दूसरे उस हृदय–हीन व्यक्ति को लो जिसने परमाणु बम तैयार किया है, जिसके कारण सब–के–सब दग चैन की सांस नहीं ले रहे। यदि कोई सहृदय व्यक्ति उसे बनाता तो उस से 'सर्वे कुशलिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया' ही होता।

शिष्य—अब मैं समझा कि जैसे बिजली के लट्टू में दो तारें रहती हैं, एक निगेटिव, दूसरी पॉजिटिव। यदि दोनों में से किसी एक के साथ स्विचका सबंध किया जाय तो प्रकाश नहीं होता। वैसे ही केवल अविद्या या केवल विद्या से प्रकाश (आत्मदर्शन) होनेका नहीं। इसलिए दोनों की ही परम आवश्यकता है। अथवा विनोबाजी के कथनानुसार ये एक ही वस्तु के निवृत्त और प्रवृत्त दो अंग हैं।

आप तो कहते हैं कि यह उपदेश सर्व–साधारण के लिए है। पर सर्व–साधारण के मस्तिष्क में यह बात कैसे बैठाई जा सकती है। जिन शब्दों के अर्थ के विषय में बड़े–बड़े विद्वान् भी चक्र में पड़ गये। इस विषय में सर्व–साधारण जनों की गति कैसे हो सकती है?

गुरु—सुनो, सचाई एक ही प्रकारकी होती है। ये सब अनुभवकी बातें

है; पुस्तक-कीटों की नहीं। महात्मा कबीरजी किस कॉलेज में पढ़े थे ? सुना है श्रीरामकृष्ण परमहंसजी भी उसी विद्यालय के विद्यार्थी थे जिसके विद्यार्थी महात्मा कबीरजी। मुझे भी एक ऐसे ही महापुरुषके समीप बैठनेका सौभाग्य मिला है जो संस्कृतका उच्चारण तक भी नहीं कर सकते थे, अर्थ की बात तो दूर रही। उन्होंने मुझसे कहा 'क्यों निरञ्जन ! पुस्तकें दिमागमें घुसती हैं या दिमागमें से बाहर आती हैं ?' मैंने कहा-घुसती नहीं बाहर आती हैं। वे बोले-सुन, 'प्रकृति की पुस्तक पढ़ाकर,' पुस्तकें तो उनके लिए हैं जिनको एकान्त चिन्तन का अवसर नहीं मिलता।'

अस्तु-आओ, विद्या और अविद्याका जरा स्थूल रूपमें भी दर्शन करें। "अविद्यावाले अन्धकार में पड़ते हैं और विद्यावाले महा अन्धकारमें"। देखो, कोई व्यक्ति पढ़-लिखा नहीं, यदि वह भूल करदे तो हम उसे क्षमाके योग्य समझते हैं। परन्तु यदि पढ़ा-लिखा व्यक्ति यही भूल करदे तो क्षमा के योग्य नहीं। किसी स्थान पर लिखा है कि 'यहां पेशाब करना मना है' किसीसे भूल हो गई। वह कहता है कि 'जी! मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, क्षमा करें'। पर ऐसा कहकर पढ़ा-लिखा तो नहीं छूट सकता। अविद्वान् भूल करे तो अन्धकार ही कहा जायगा। पर यदि विद्वान् होकर भी भूल करे तो घोर अन्धकार नहीं तो और क्या है। सोये हुए को तो जगाया जा सकता है, पर मचलते हुए (जो जान-बूझ कर मैनेका ढोंग कर रहा हो) को नहीं। पागल, पशु आदि प्राणी भरे बाजारमें मल-त्याग आदि क्रियाएँ कर देते हैं, पर तुम भी एक बार करके तो देखो ? तुम भी शुकदेव या शर्माका रूप बनाकर बाजार तक तो होकर आओ। इसलिए विद्वानों का उत्थान भी भूयः और पतन भी भूयः ही होता है।

अन्यदेवाहुर् विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

अर्थ—आत्मतत्त्व को विद्या से भी भिन्न कहा है और अविद्या से भी भिन्न कहा है। जिन्होंने हमको उसका दर्शन कराया है, उन धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है।

शिष्य—यहां 'विद्या' का 'विद्यायाः' अर्थ कैसे कर डाला ?

गुरु—यहां तृतीया विभक्ति पंचमीके अर्थ में आई है। यह बात मन्त्र १३ से ध्यान में आजायगी। इस प्रकार तृतीया पंचमीके अर्थ में हो सकती है। वेदों में इस तरह का उसका अनेक बार प्रयोग आता है। इसके अतिरिक्त इसी स्थान पर यजुर्वेद के माध्यंदिन पाठ में '**विद्यायाः**' और '**अविद्यायाः**' ऐसे सीधे ही पाठ आये हैं। उन्हें छन्द के सुभाने के लिए उपनिषद् ने बदल भर दिया है।

शिष्य—"'आत्मतत्त्व' विद्या और अविद्या से भिन्न कहा है" यह कैसे?

गुरु—श्वेताश्वतर (५।१) में भी लिखा है कि "**विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः**" अर्थात् विद्या और अविद्या-इन दोनों का चालक दोनों से न्यारा है।

इस मन्त्र में तथा तेरहवें मन्त्र में आत्मतत्त्व को—ब्रह्मतत्त्व को—'तत्' कहा है। '**तत् त्वम् असि**' महावाक्य का प्रथम पद यही है। तत्=परली वस्तु, जो सभी द्वंद्वों से परे है। उसे ही जानना है, उसे ही प्राप्त करना है और उसी में 'त्व' का लय करना है। यह जानने और न जानने से परे है। '**येन इदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारम् अरे ! केन विजानीयात्**" अर्थात्–जिस आत्मा से इस समस्त जगत् को जानते हैं। उस आत्मा को किस साधन से जानें।

बात भी ठीक है—जब ज्ञान–ज्ञाता–ज्ञेय यह त्रिपुटी एक ही बन गई तब कौन किसको जाने। अब 'यह, वह, मैं' (यह=संसार, वह परमात्मा, मैं=शरीराभिमानी जीव) रहा ही कहां? सूर्य-धूप-किरण क्या अलग-अलग हैं? (वह=सूर्य, यह=धूप, मैं=किरण) सूर्य को देखनेके लिए भी क्या दीपक की आवश्यकता है?

शिष्य—यहां लक्षण से 'अविद्या' शब्दका 'तप' अर्थ मानलें तो क्या हानि है ?

गुरु—जहां वाच्यार्थ का बाध होता है, वहीं लक्षणा मानी जाती है। यहां तो मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बाध ही नहीं होता। अतः लक्षणा मानना ठीक नहीं।

शिष्य—'अविद्या' का अर्थ यदि कर्म (जो कुछ लोगोंने किया भी है) मान लिया जाय तो क्या हानि ?

गुरु—मन्त्र दूसरे और तीसरे को एक साथ पढ़ने से तुम भली-भांति समझ सकोगे कि ईशावास्य में कर्म को गाढ़ अन्धकार कहने की कल्पना कभी नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त अविद्या का यथाश्रुत कर्म अर्थ तो बिलकुल है ही नहीं।

शिष्य—अच्छा, तो विद्या का अर्थ आत्मज्ञान तो मानिए ?

गुरु—भाई! जैसे किसी कविने "**अनुमानस्य लोभेन, भूप कूपे निपातितः**" कर डाला है। वैसे ही हम भी "**समुच्चयस्य लोभेन ज्ञानं तमसि पात्यते**" कर डालेंगे। अर्थात्-ज्ञान और कर्म के समुच्चय के लोभसे यदि विद्याका अर्थ आत्मज्ञान मान भी लें तो विद्याको गाढ़ अन्धकार कहा है। आत्मज्ञानको भी गाढ़ अन्धकार मानना ही होगा। वह भी मानो अविद्या से अधिक। कितना भी कल्पनाशक्तिको खींचा जाय। पर यह बात ध्यान में ही नहीं आती। वस्तुतः सीधा अन्वयार्थ तो यही बतलाता है कि ये मन्त्र आत्मज्ञान की सर्वोच्च महिमा व्यक्त करने के ही लिए हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते य उ संभूत्यां रताः ॥१२॥

अर्थ—जो निरोध में डूब गये वे गाढ़ अन्धकार में पैठे। जो विकास में रम रहे वे मानो उससे भी घोर अन्धकार में बैठे।

शिष्य—आपने असंभूति का 'निरोध' और संभूति का 'विकास' अर्थ कैसे कर डाला ?

गुरु—इसके पहले के तीन श्लोकोंमें बुद्धि-शोधन हुआ है। अब यहांसे हृदय-शोधन का आरंभ होता है। असद्-वृत्तियों का निरोध और सद् वृत्तियोंका विकास ये दोनो एक ही हृदय-शोधन के निवृत्त और प्रवृत्त अंग हैं। इसके अनुसार उनके फल भी निवृत्त और प्रवृत्त रूप में दिखाये गये हैं।

शिष्य—पर दूसरे किसीने तो ये अर्थ नहीं किये। आप किस आधार पर ऐसे अर्थ करते हैं?

गुरु—मेरे अर्थोंका आधार तो श्रीविनोबाजी की वृत्ति है और उनके अर्थोंका आधार है वैदिक-साहित्य। वे लिखते हैं कि-'सम्भूति' और 'असंभूति' शब्दों के अर्थ के विषय में एक मति नहीं और आगे भी होगी, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यहां के अर्थ निश्चयके संबंध में इतना ही कहना है कि उस करते समय यथासंभव वैदिक साहित्यकी गवाही ली गई है।"

शिष्य—'निरोध' में गाढ़ अन्धकार कैसे है? और 'विकास' में उससे भी घोर अन्धकार कैसे?

गुरु—जब हम अशुभ वृत्तियों का निषेधरूपेण निरोध करने लग जाते हैं तो वे अशुभ वृत्तियां हमारे अन्तःकरण में अपना घर करने लग जाती हैं। ज्यों ज्यों हम अपनी ओर से उन्हें दूर करने लग जाते हैं त्यों त्यों वे हम पर अपना पूरा प्रभाव डालने लग जाती हैं। अन्त में हमारी हार हो जाती है, हम तद्रूप बन जाते हैं। कंस कृष्ण बन गया और रावण राम, यह है निषेधरूप निरोधका परिणाम। बुराई करने से बुराई का चिंतन करना अधिक बुरा है और भलाई करने से भलाई का चिंतन करना अधिक भला है। देखो, जो लोग लड़की को स्त्री का भी स्पर्श करना बुरा मानते थे, वही अब लोग चमड़े की स्त्री का भी स्पर्श करने में संकोच नहीं करते। कारण कि वे लोग निषेधात्मक निरोध के नाम पर उसका जप ही करते रहे। भिक्षुओं की संख्यासे भिक्षुणियों की संख्या अधिक होगी।

बेटा ! जबतक किसी वस्तु की हमारे हृदय में कीमत है तबतक निषेधात्मक बातों से शुद्ध नहीं बन सकता। इसलिए उस वस्तु की कीमत कम कर डालो। कीमत कम कर डालने का ही नाम वैराग्य है। तुझे मांस के मूल्य का ज्ञान नहीं। क्योंकि तेरे हृदय में उसकी कीमत नहीं।

अब लो विकास की बात–हम अपनी ओरसे अपने गुणों का विकास करते चले जा रहे हैं। यह विकास हमारे खाने–पीने–पहरने–उठने बैठने आदि में स्पष्ट दिखाई दे रहा है। हम अपने पूर्वजों से अपने को विकासशील मानते हैं। क्योंकि वे बे-चारे खाना–पीना–पहरना आदि नहीं जानते थे। देखना तो यह है कि कहीं हम विकास के नाम पर विषयों के दास तो नहीं बन रहे। जूता हमारा दास है न कि हम जूते के दास। फिर दिन में बीस बार जूते की सेवा क्यों? कपड़ा तन ढकने के लिए आवश्यक है, पर उसके डिजाइनों पर इतना जोर क्यों? खाना शरीर टिकानेके लिए है, जिससे हम अपना जीवन सार्थक कर सकें। पर आज तो जीवन ही खाने के लिए बना हुआ दिखाई देता है। मैं साफ रहने का निषेध नहीं कर रहा, मैं तो दासता की ओर ध्यान खींच रहा हूँ। हम परतन्त्र बने जा रहे हैं स्वतन्त्रता के नाम पर। केवल तन की सफाई से काम नहीं चलेगा, इसके साथ–साथ वचन और मनकी भी सफाई चाहिए। हमारा यह गुण–विकास एक प्रकारकी विलासिता ही है जो समस्त दुःखों की जड़ है। याद रखो–भोगसे शक्तियोंका विनाश होता है और योगसे विकास। हम कर क्या रहे हैं? अविचार–रूपी भूमि में राग का बीज बोकर विषय–चिन्तनका जल डाल रहे हैं, जिससे यह विलासिताका वृक्ष पैदा हो गया है, इसके फल हैं सुख और दुःख। यदि दुःख नहीं चाहते तो विचार की भूमि में वैराग्य का बीज बोकर त्याग का वृक्ष लगाओ, जिसका फल होगा आनन्द। अब सुनो श्रीविनोबाजीकी वाणी—

"विधायक विकासदृष्टि के अभाव में केवल निरोधरूप निषेधक साधना खुद हम पर ही उलट पड़ती है। अशुभ वृत्तियों के निरोध का नाम लेते-लेते वे वृत्तियाँ ही दृढ़ होने लगती हैं। यह है निरोधके अन्दर का गाढ़ अन्धकार। दूसरी ओर निरोध-शून्य केवल विकास की कल्पनासे मानो इससे भी घोर अंधेरा पैदा होने की संभावना रहती है। गुण-विकासके नामसे मनुष्य अनजान में अनेक प्रकारके विषय-पाशों से जकड़ लिया जाता है। दोनों ओर के अंधकारका यह केवल एक नमूना दिखाया है। आत्मज्ञान-विहीन ऐकांतिक बौद्धिक साधना की भांति आत्मज्ञान-विहीन ऐकांतिक हार्दिक साधना में भी कई प्रकारका अंधकार खूब भरा होता है। वह जिसको हो वही खोज ले। उन सबसे बचने के लिए आत्मज्ञान चाहिए।"

शिष्य—पं० सातवलेकर जीने तो 'असंभूति' का अर्थ व्यक्तिगत उन्नति और 'संभूति' का अर्थ संघसत्ता किया है। आपके किये हुए अर्थ तथा सातवलेकरजीकृत अर्थ में से कौनसा अर्थ ठीक है?

गुरु—दोनों ही ठीक हैं।

शिष्य—सत्य एक ही प्रकार का होता है, दो प्रकारका नहीं।

गुरु—मैं भी मानता हूँ कि सत्य एक ही प्रकारका होता है। पर उस सत्य को देखनेवाली दृष्टि कई प्रकारकी हो सकती है। संसार एक ही प्रकार का है कोई इसे सुखमय देखता है और कोई दुःखमय। पर संसार न सुखमय है और न दुःखमय, जैसा है वैसा ही है। बच्चे की दृष्टि में मां मां है, पति की दृष्टि में पत्नी और पिता की दृष्टि में पुत्री, इस प्रकार दृष्टि-भेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं। यहां भी दृष्टिभेद है, अर्थ-भेद नहीं। जो अर्थ-भेद प्रतीत हो रहा है। वह अपने विचार की कमी है।

विचार करो, जो संघ-सहकार के बिना व्यक्तिगत उन्नति करते हैं। वे घोर अन्धकार में जाते हैं। उदाहरण के रूप में ब्राह्मणों को लो, जब इन्होंने सबकी उन्नति के साथ-साथ अपनी उन्नति [illegible] तब वे

खर्च करके नदियों पर बनाये गये पुल इसकी दृष्टि में बच्चों का बनाया हुआ एक बालुका घरोंदा है। यह है उससे भी घोर अंधकार में घुस जाना।

शिष्य—श्रीविनोबाजी का दृष्टिभेद समझाइए ?

गुरु—श्रीविनोबाजी सातवलेकरजी की सम्भूति और असंभूति में न घुसकर अनुभूति में गहरे जा घुसे। वे वहां बैठे-बैठे ब्रह्माण्ड पर से अपनी दृष्टि हटा कर पिंड पर दृष्टि डाल रहे हैं। वे कहते हैं कि यदि हम सद्वृत्तियों का पक्ष लेकर असद्वृत्तियों को दुत्कारते रहेंगे तो हम स्वयं भी असद् बन जायेंगे और यदि हम गुण-विकास के नाम पर आगे निकल जायेंगे तो विषयों के जाल में फँस जायेंगे। इससे बचने के लिए आत्मज्ञान की परम आवश्यकता है। ब्रह्माण्ड और पिण्ड की एक ही प्रकार की रचना है। सातवलेकरजी की दृष्टि के सामने ब्रह्माण्डका छोटाभाई जगत् है और विनोबाजी की दृष्टि के सामने जगत् का छोटाभाई शरीर है। बस, इतना ही दृष्टिभेद है। अपनी अपनी दृष्टि के भेद के कारण—एकने असंभूति (संघसत्ता) और संभूति (व्यक्ति-स्वातंत्र्य) तथा दूसरेने असंभूति (निरोध) और संभूति (विकास) अर्थ किया है।

शिष्य—कुछ लोग इन मंत्रों का अर्थ द्वैत-परक करते हैं और कुछ लोग अद्वैत-परक। वस्तुतः ठीक कौनसा अर्थ है ?

गुरु—आत्मा द्वैत भी है और अद्वैत भी। आत्मा की चार अवस्थाएँ होती हैं। दो में द्वैत का अनुभव होता है और दो में अद्वैत का। जाग्रत् और स्वप्न में द्वैत का अनुभव होता है एवं सुषुप्ति और तुर्या में अद्वैत का। जाग्रति उपासना की अवस्था, स्वप्न सविकल्प-समाधि, सुषुप्ति निर्विकल्प-समाधि और तुर्या अज्ञेय-स्थिति है। यही बात ॐ कार की चार मात्राओं में क्रमशः सूचित की गई है अ (जाग्रति) उ (स्वप्न) म् (सुषुप्ति) ँ (तुर्या)।

वस्तुतः 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि' इस सातवें मंत्र को छोड़कर

याको सभी मंत्र द्वैत का प्रतिपादन करते हैं।

अन्यदेवाहुः संभवाद् अन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

अर्थ—आत्मतत्त्व को विकास से भी भिन्न कहा है और निरोध से भी भिन्न कहा है। जिन्होंने हमको उसका दर्शन कराया है, उन धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है।

शिष्य—यहां 'संभूति और' 'असंभूति' शब्द न देकर 'संभव' और असंभव शब्द क्यों दिये हैं?

गुरु—छन्द ठीक बैठ जाय इसलिए।

शिष्य—आत्मतत्त्व, निरोध और विकास से परे कैसे है?

गुरु—आत्मतत्त्व यदि मुझसे भिन्न हो तो मैं उस का निरोध और विकास कर सकता हूँ। पर वह तो मेरा स्वरूप ही है। मैं अपना निरोध कैसे करूं? और विकास कैसे करूं? इसलिए वह निरोध और विकास से परे की वस्तु है।

शिष्य—'निरोध' से आत्मज्ञान भिन्न है यह तो समझ में आ जाता है। पर 'विकास' से भी भिन्न है यह समझ में नहीं आता इसका क्या कारण है?

गुरु—'विकास की परम सीमा ही आत्मज्ञान है' यह कल्पना दृढ होजाने के कारण—हमारी कर्णेन्द्रियां इस की अभ्यस्त हो जाने के कारण—हमारी समझ में नहीं आता। यह बात विशेष रूप से समझ लेनी चाहिए। इसीलिए 'अन्यदेवाहु' सम्भवात्' में 'एव' का प्रयोग हुआ है। इस बात पर जोर दिया गया है।

शिष्य—दो प्रकार की बौद्धिक साधना से तथा दो प्रकार की हार्दिक साधना से भी आत्मज्ञान भिन्न वस्तु है। यह बात तो किसीने नहीं कही?

गुरु—यह बात उपनिषद् ही कह सकती है। पर उपनिषद् ने भी पूर्व गुरुओं का हवाला दिया है। 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान' यही इसका सार निकलता है।

शिष्य—किसी भी मंत्र में 'गुरु' शब्दका उल्लेख नहीं हुआ। पर आपने 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान' कहां से भाव निकाल डाला?

गुरु—इस मंत्र में तथा पहले के दसवें मंत्र में 'धीर' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'धीर' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक 'बुद्धिमान्' दूसरा 'धृतिमान्'। 'धी' नाम बुद्धिका है, धियं=बुद्धिम् ईरयति=प्रेरयति, इति धीर (बुद्धिमान्)। 'धृ' धातु से बनावें तो धरति=धारयति इति धीर = 'धृतिमान्' अर्थ होगा। दसवें मंत्र में बुद्धि शोधन का प्रसंग है। इसलिए वहां मुख्यतया 'बुद्धिमान्' अर्थ लिया गया है और यहां हृदय शोधन का प्रसंग है, इसलिए यहां मुख्यतया 'धृतिमान्' अर्थ लिया है। दोनों अर्थ मिलाकर ही पूर्ण धीरता होती है। धीर अर्थात् गुरु।

शिष्य—'इति शुश्रुम' क्यों कहा?

गुरु—श्रुति, स्मृति और कृति, यह है उपनिषदोंकी संक्षेप में ज्ञान प्रक्रिया। अर्थात्-पहले गुरुमुख से श्रवण करना, फिर उसका चिंतन-पूर्वक बारबार स्मरण करना, अनन्तर उसके अनुसार कृति करके उसे कसौटी पर कसना। यह बात 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ करते समय हम कह ही चुके हैं।

शिष्य—'विचचक्षिरे' का अर्थ 'व्याख्या करके बतलाया' या 'समझा दिया' ऐसा करते हैं। आपने इसका 'दर्शन कराया है' अर्थ कैसे कर दिया?

गुरु—ये दोनों अर्थ भी ठीक ही हैं। पर 'विचचक्षिरे' में 'चक्ष्' धातु है और उसका 'चक्षु' से सम्बन्ध है। इसलिए 'दर्शन करा दिया' इतना उसका अर्थ अभिप्रेत है। शिष्य को ज्ञानका दर्शन करा देना गुरु की करामात है और उस ज्ञान को अनुभव में लाना शिष्य की करामात। अनुभव में लाने पर ही ज्ञान सफल होता है। नहीं तो 'ज्ञानं भारं क्रियां विना' ही है।

शिष्य—यह ज्ञान हृदय पर क्यों नहीं जमता?

गुरु—इसलिए कि वहां कोई दूसरी चीज (अभिमान आदि) जमी होगी।

संभूतिं च विनाशं च यस् तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

अर्थ—विकास और निरोध, इन दोनों के साथ, जो उस आत्म-तत्त्व को जानते हैं, वे उस आत्मतत्त्व के सहारे, निरोध से मृत्यु को पार करके, विकास से अमृत को पाते हैं।

शिष्य—इस मंत्र में 'असंभूति' शब्द न देकर 'विनाश' शब्द क्यों दिया गया ?

गुरु—ऐसा करने का यह हेतु है कि दोषनिवृत्ति के-निरोध के-दो भाग होते हैं (क) नये दोष न चिपकने देना, (ख) पुराने चिपके हुए दोषों को निकाल कर फेंक देना। 'असंभूति' शब्द अक्षरार्थ से मुख्यतया पहला भाग सूचित करता है। दूसरा भाग सूचित करने के लिए 'विनाश' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु योगशास्त्रने निरोध शब्द में ही दोनों भागों का समावेश कर दिया है।

शिष्य—क्या 'असंभूति' की तरह 'अविद्या' के भी दो भाग हैं ?

गुरु—हां, जैसे 'विनाश' शब्दसे असंभूति के दो भाग सूचित होते हैं। वैसे 'अविद्या' के भी दो भाग सूचित समझने चाहिए। (क) व्यर्थ बोझ-का-बोझ ज्ञान प्राप्त न करना, और (ख) पुराना प्राप्त किया हुआ भूल जाना।

शिष्य—'निरोध से मृत्यु को पार करके, अमृत को पाते हैं, कैसे ?

गुरु—जब आत्मज्ञान की उत्कंठा होती है तब मनुष्य निरोध के बलसे विषय-वशीकार वैराग्य प्राप्त करता है। इतना होने पर यह कहा जा सकता है कि साधक मृत्यु को तर गया। आगे, विकास के बलसे ओत प्रोत विश्व प्रेम का अभ्यास करके अक्षय अमृत की निधि को प्राप्त कर लेता है। निरोध और विकास को इस प्रकार आत्मज्ञान के लिए खपा लेने से दोनों उपकारक तथा साधन हो जाते हैं। जैसा बता चुके हैं कि विद्या और अविद्याका समुच्चय नहीं लेना। उसी

प्रकार यहा भी निरोध और विकास का समुच्चय नहीं लेना। किन्तु दोनो दोषों से रहित तथा दोनो गुणों से सपन्न एक ही अव्यग (अविकल) और परिपूर्ण साधना लेनी है।

शिष्य—माध्यंदिन पाठ में १२, १३, १४ सख्यावाले मंत्र पहले दिये हैं और ९, १०, ११ वाले बादमें–ऐसा क्यों? पहले बुद्धि-शोधन होना चाहिए या हृदय-शोधन? इन दोनो में से अधिक महत्त्वशाली कौनसा है?

गुरु—ये प्रश्न केवल व्यर्थ का विवाद खड़ा करते हैं। साधक की जैसी मनोभूमि होगी वह वैसा करेगा। वास्तव में दोनो समान महत्त्व रखते हैं और प्रायः एक साथ ही साधन करने के हैं। फिर भी विवेचन का उपन्यास करते समय पहले बुद्धि-शोधन और बाद में हृदय-शोधन ऐसी रचना करना अधिक योग्य होगा। क्योंकि गीता ने भी साख्य-बुद्धि की नींव पर ही आगे योग-बुद्धि की रचना की है।

शिष्य—मंत्र २, ६, १२ में अधकार का निर्देश किया है। इन में पारस्परिक क्या भेद है?

गुरु—मत्र ३ में क्रियागत अन्धकार–आत्मघातक आसुरी आचरण
मंत्र ९ में बुद्धिगत अन्धकार—
(क) केवल अविद्या (ख) केवल विद्या।
मत्र १२ में हृदयगत अन्धकार—
(क) केवल निरोध (ख) केवल विकास। इन में से नैतिक अन्धकार तो सर्वथा वर्जनीय है ही। बौद्धिक तथा हार्दिक अन्धकार संशोधनीय है। सशोधन करने पर वह (अन्धकार) साधनरूप हो सकता है।

शिष्य—संशोधन किसके द्वारा होगा?

गुरु—आत्मज्ञान के द्वारा।

शिष्य—आत्मज्ञान किसके द्वारा होगा?

गुरु—संशोधन के द्वारा।

शिष्य—यह तो वही बात हुई कि ताली ट्रंक में रह गई और ताला

लगा दिया गया। ताली कहती है कि ताला खुले तो मैं बाहर निकलूं और ताला कहता है कि ताली बाहर निकले तो मैं खुलूं।

गुरु—ठीक, बिलकुल यही बात है। यहीं आकर बड़े बड़े ज्ञानी, बुद्धिमान, कर्मी और योगी चक्र में पड़ जाते हैं। वे बेचारे शून्य में ही गोते खाने लगते हैं। उनकी आंखों के सामने अंधेरा ही अंधेरा छा जाता है। ऐसी अवस्था में ही प्रार्थनातत्त्व काम आता है। इसलिए आगे के मन्त्र में ईश्वरभक्ति का आवाहन किया गया है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्य-धर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

अर्थ—सुवर्णमय पात्र से, सत्यका मुंह ढका हुआ है। हे विश्वपोषक प्रभो! मुझ सत्यधर्म उपासक के दर्शन के लिए उसे तू उघाड़।

शिष्य—जब आत्मा सत्यकाम, सत्यसंकल्प, सत्यस्वरूप और शिवस्वरूप है तो सब को ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता?

गुरु—"त इमे सत्याः कामाः अनृतापिधानाः" (छा. ८-३-१) आत्मा की सत्यकामता अनृतसे ढकी हुई है। यह ढक्कन दूर करने के लिए ही यह प्रार्थना है।

शिष्य—वह ढक्कन लग कैसे गया?

गुरु—वह अनृतरूप या असत्यरूप ढक्कन अपने खरे (असली) स्वरूप में मनुष्य को प्राय खींच नहा सकता। इसलिए वह कभी अनेक 'रमणीय' भोगो का और कभी प्रसंगवश 'हित' रूप लगनेवाले कर्तव्यों का रूप धारण किया करता है। जिस से मनुष्य उसकी ओर खिंच जाता है और सत्य ढँक जाता है—आंखों से ओझल हो जाता है। यही है हिरण्मयपात्र (हिरण्मय=हित+रमणीय) या सुनहरा ढक्कन, (सुन–हरा=श्रवणमात्र से हरनेवाला–खींचनेवाला) 'स्मरण रक्खो'—यहां 'हिरण्मय' शब्द लाक्षणिक है। लक्षणा से ही इसका रमणीय भोग और हितरूप कर्तव्य अर्थ लिया गया है। परन्तु अक्षरार्थ पर भी अवश्य ध्यान देना है। अक्षरार्थ से यह

वित्त-मोह का सूचक है (देखो मंत्र १ 'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्')। वित्तमोह से सत्यदर्शन का लोप होता है और मनुष्य प्रमाद में पड़ता है। "**प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्**" (कठ २-६)

शिष्य—मनुष्य को वित्तमोह क्यों होता है ?

गुरु—इसलिए कि मनुष्य वित्त से पोषण की आशा रखता है। वस्तुतः वित्त पोषक नहीं शोषक है। सत्य से पोषण होता है और अनृत से शोषण होता है। "**समूलो वै एष शुष्यति, यो अनृतम् अभिवदति**" (प्रश्न ६-१)

शिष्य—'हिरण्मयपात्र' का नाम गीता में क्यों नहीं आया ?

गुरु—गीताने 'हिरण्मयपात्र' को 'योगमाया' नाम दिया है। योगमायाने ईश्वर को घेर रखा है, इसलिए उसका दर्शन लुप्त हो गया। "**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः**" (गी. ७।२५) उसकी माया का निराकरण भी उसीके आश्रय से होगा '**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते**' (गी. ७।१४) इसीलिए यह प्रार्थना है। "असतो मा सद् गमय" (बृ. १।३।२८) सूचित हुआ।

शिष्य—यदि ईश्वर को भी मायाने घेर रखा है तो ईश्वर और जीव में भेद ही क्या रहा ?

गुरु—ईश्वर योगमायावाला है और जीव गुणमयीमायावाला है। योग-माया से त्याग, प्रेम, आनंद होता है और गुणमयी माया से बन्धन, राग-द्वेष, सुख-दुःख होते हैं। गुणमयी माया=(अविद्या) प्रवर्तक और योगमाया=(विद्या) निवर्तक। माया के अभाववाला ब्रह्म।

शिष्य—सत्य पर का सुनहरा ढक्कन दूर करने के लिए विश्वपोषक परमेश्वर से प्रार्थना की है। क्या यह परमेश्वर सत्य से भिन्न है ?

गुरु—सत्य से परमेश्वर भिन्न नहीं, यह सत्य ही है। सत्य का दर्शन प्राप्त करने के लिए सत्य की ही प्रार्थना की है "सत्यं ज्ञानम् अनंतं ब्रह्म"।

शिष्य—ईश्वर को सत्य कहें या सत्य को ईश्वर कहें ?

गुरु—दोनों एक ही हैं। 'ईश्वर ही सत्य है' यह तत्त्वज्ञान की भाषा है और 'सत्य ही ईश्वर है' यह साधना की भाषा है। 'नारायण ही सत्य है' यह तत्त्वज्ञानी कहेगा और 'सत्य ही नारायण है' यह भक्त कहेगा। पर बात एक ही है।

शिष्य—आप तो एक ही बात बता रहे हैं। पर तत्त्वज्ञानी और भक्तों में तो पारस्परिक नोक-झोंक चलती ही रहती है। 'देवानां प्रियः' 'शुष्कज्ञानी' आदि शब्द इन लोगों की ही देन है। फिर एक ही बात कैसे ?

गुरु—तुम मनुष्यों की बात कर रहे हो और मैं ज्ञान और भक्ति की बात कह रहा हूँ। ज्ञान और भक्ति में कुछ झगड़ा नहीं, मनुष्यों में हो तो वह अलग बात। जो भक्त नहीं वह ज्ञानी नहीं और जो ज्ञानी नहीं वह भक्त नहीं। झगड़ा करना तो पागलों का काम है; ज्ञानी या भक्तों का काम नहीं।

ज्ञानी की बुद्धि इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि वह आत्मज्ञान के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की तो बात ही क्या उन वस्तुओं का ज्ञान भी सहन नहीं कर सकती। वह बाह्य ज्ञान उसे भारी प्रतीत होता है। पर यह बात भूल नहीं जानी चाहिए कि वह साकार के सहारे से ही निराकार में पहुँचा है। पहले सब वस्तुएँ निराकार ही होती हैं और बाद में साकार। अनन्तर साकार से निराकार में जाना होता है। कोई भी व्यक्ति साकार देह धारण करके एकदम निराकार में नहीं जा घुसता। उसे निराकार में पहुँचने के लिए साकार का सहारा लेना ही पड़ेगा। नदी पार करने के लिए नौका की आवश्यकता पड़ती ही है। पार हो जाने पर नौका छोड़ दी जाती है। यदि कोई नौका को भला-बुरा कहता है तो यह उस की कुलीनता का परिचायक है। अच्छा, अब श्री. विनोबाजी के शब्दों में सुनो—

ईश्वर के अनंत गुण हैं। साधक अपनी अपनी रुचि और आव-

श्यकता के अनुसार उस के विशिष्ट गुण-रूप मानते हैं। साधकों की इन सब शाखाओं के स्थूल-रूप से दो वर्ग हो सकते हैं। एक तो निर्गुण शाखा, जो ईश्वर को 'सत्य' या सत्य के पर्यायरूप संज्ञा से संबोधित करती है, और दूसरी सगुण शाखा, जिसे 'प्रेम' या प्रेम के पर्यायरूप संज्ञाएं मधुर लगती हैं। दार्शनिक झुकाव के विचारक पहले वर्ग में आते हैं। उपासना पर्यों की गणना दूसरे वर्ग में होती है। उपनिषदोंने, स्वयं दार्शनिक झुकाव होने के कारण, व्याख्या करते समय 'सत्य ब्रह्म' इस तरह व्याख्या की है। पर उपासना के बिना दर्शन नहीं, यह भी उपनिषदों का सिद्धान्त है। अतः उपासना के लिए, 'प्रिय ब्रह्म' अर्थात् प्रेममय स्वरूप की उपासना करें, ऐसा भी उन्होंने बताया है (बृ० ४।१।३ तथा १।४।८)। सात्विक विचार करने पर 'सत्य' शब्द ही अंत में टिक सकता है। क्योंकि सत्य निर्विकार है। प्रेम विकारयुक्त और निर्विकार दोनों ही प्रकार का हो सकता है। इसीलिए विकारवान् मनुष्य को निर्विकारता की ओर ले जाने के लिए ईश्वर का प्रेममय स्वरूप सेतु का काम देता है। इस के अनुसार उसका उपयोग याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में सुझाया भी गया है। व्यापकदृष्टि से सत्य साध्य और प्रेम उस की प्राप्ति का साधन—यह है इस का निचोड़।"

सत्य को 'पूषन्' अर्थात् विश्वपोषक की संज्ञा देकर इस मंत्रने सत्य और प्रेम के बीच का भेद ही मिटा दिया। सारे समाज का प्रेमपूर्ण सेवावृत्ति से पोषण करने वाले शूद्र को उपनिषदोंने 'पूषन्' कहा है, और ऐसी प्रेमपूर्ण सेवावृत्ति की आदर्शरूप भूमाता का उदाहरण देकर उसे भी 'पूषन्' संज्ञा दी है-"इयं वै पूषा। इयं हि इदं सर्वं पुष्यति, यद् इदं किं च" (बृ० १।४।१३) 'पूषन्' का अधिक विवरण अगले ही मंत्र में आता है। सत्य और प्रेम का समन्वय करने की इस वृत्तिसे ही मंत्र ६ और ७ ये दो अलग अलग कहने पड़े हैं नहीं तो किसी एक ही मंत्र से काम

चल सकता था।

शिष्य—'तत् त्वम् अपावृणु' में 'तत्' शब्द से 'ढक्कन' लेना चाहिए या 'सत्य का मुंह'?

गुरु—दोनों ही ले सकते हो। फलित एक ही होगा। जैसे—'तत् त्वम् अपावृणु'=उस (ढक्कन) को दूर कर अथवा उसे (सत्य के मुंहको) तू प्रगट कर।

शिष्य—'सत्यधर्माय दृष्टये' का क्या अर्थ है?

गुरु—सत्यधर्म शब्द अपने पुराने रूप में (सत्यधर्मन्) ऋग्वेद में चार-पाँच बार आया है और सभी जगह वह 'बहुव्रीहि' है। इसलिए यहां भी 'बहुव्रीहि' ही लेना चाहिए। जिसका अर्थ होगा "सत्य की उपासना जिसका धर्म है वह"

'धर्म' शब्द के दो अर्थ हैं—नीतिधर्म और ईश्वर। धर्म=धारण' करनेवाला। नीतिधर्म समाज-देश का धारण करता है और ईश्वर सभी लोक लोकान्तरों का धारण करते हैं। "एष सर्वेश्वर, एष सेतु विधारणः एषां लोकानाम् असंभेदाय" यह सर्वेश्वर, लोक कहा फूट न जायँ-इसलिए उन्हें रोक रखनेवाला यह बाँध है (बृ० ४। ४। २२)।

इसी प्रकार 'सत्य' में भी सभी नीतिधर्मों का सार आ जाताहै। क्योंकि सत्य ही सब नीतिधर्मोका आधार है। वह स्वतंत्र धर्म भी है। वह प्रथम है। वह अंतिम है। वह परम है। वह पूर्ण है। जो उसके विरुद्ध खड़ा होगा-वह असत्य, निराधार सिद्ध होगा। "यो वै स धर्मः सत्य वै तत्" (बृ० १। ४। १४)

सत्य ही दर्शन के लिए आत्मा बनता है।

सत्य ही प्रार्थना के लिए ईश्वर बनता है।

सत्य ही आचरण के लिए धर्म बनता है। इस मंत्र में की प्रार्थना वैदिक-धर्म की सार्वभौम प्रार्थना है। इसी में से अगले तीन मंत्रों की ध्यानत्रयी हमें संपादन करनी है।

हुई प्रतीति का निर्देश है।

शिष्य—सारे मंत्र को ही प्रार्थना क्यों नहीं मान लिया जाता ?

गुरु—यह ईश्वर का ध्यान है। ध्यान तभी परिपूर्ण कहा जाता है जब उसमें तीन बातें हों, अर्थात् प्रार्थना, दर्शन, और प्रतीति मिलकर ही ध्यान पूरा होता है।

शिष्य—जो हम लोग रोज ध्यान करते हैं क्या यह अधूरा ही ध्यान है ?

गुरु—हां, है तो अधूरा ही। पर 'दर्शन' के स्थान पर 'भावना' और 'प्रतीति' के स्थान पर 'प्रीति' को रखकर ध्यान पूरा कर लिया जाता है। किन्तु ध्याता, ध्यान, ध्येय का एक हो जाना ही पूरा ध्यान है।

शिष्य—'ईश्वर ही एक निरीक्षक है' यह कैसे ?

गुरु—'ऋष्' धातु से 'ऋषि' शब्द बना है। जिसका अर्थ है निरीक्षण करना। अन्तर्यामी भगवान् ही एकमात्र निरीक्षण करने-वाले हैं। इसलिए उनका नाम 'एकर्षि' है। निरीक्षण ईश्वरी सत्ता का एक महान् अंग है। यह निरीक्षण का अधिकार ईश्वर ही रखता है। परन्तु शिष्य के लिए गुरु ईश्वर तुल्य है, इसलिए इसका भी यह अधिकार माना जा सकता है। अतः गुरु को भी 'एकर्षि' यह संज्ञा दी जा सकती है। उपासना के लिए ईश्वर को आकाशस्थ सूर्य की और गुरु को पृथ्वीस्थ अग्नि की उपमा देकर 'एकर्षि' सूर्य और अग्नि इस प्रकार भी अर्थ होते हैं। इस मंत्रमें सूर्य की ओर ध्यान है। मुंडक ३।२।१० में अग्नि की ओर ध्यान है। संस्कृत में कुछ धातुएं एक ओर तो सूक्ष्म अर्थ में ज्ञानवाचक एवं दूसरी ओर स्थूल अर्थ में गतिवाचक होती हैं। इसके अनुसार 'ऋष्'= जाना, यह भी अर्थ होता है। दोनो अर्थ मिलाकर उनका उपयोग चौथे मंत्र के 'अर्षत्' पद में किया गया है।

शिष्य—'यम=नियमनकर्ता और सूर्य=प्रवर्तनकर्ता" यह कैसे ?

गुरु—यम और सूर्य-ये अन्योन्य-पूरक दो कार्य हैं। भक्त का निरीक्षण

करके ही ईश्वर नहीं रुकता, बल्कि आवश्यकतानुसार उसका नियमन भी करता है और प्रेरणा भी देता है। अशुभ से नियमन और शुभ के लिए प्रेरणा। यम=नियमन करनेवाला, सूर्य=उत्तम प्रेरणा देनेवाला। (सु+ईर्) सूर्य को ही सूक्ष्म रूप से सविता भी कहते हैं। गायत्री-मंत्र में इसीके वरणीय स्वरूप का ध्यान करके बुद्धि के लिए इससे उत्तम प्रेरणा की प्रार्थना की गई है।

शिष्य—'**प्राजापत्य**' का अर्थ 'जैसे पुत्र का पालन किया जाता है वैसे प्रजा का पालन करता है' कैसे हो गया?

गुरु—ईश्वर का 'राज्य' राज्य नहीं होता। वह तो 'प्राजापत्य' होता है। यह ईश्वरी राज्य का स्वरूप दिखाया है। है तो यह धर्मवाचक शब्द। परन्तु यहां धर्मी के लिए प्रयुक्त किया गया है।

शिष्य—'व्यूह-समूह' का क्या अर्थ है?

गुरु—व्यूह=विश्लेषण, समूह=संश्लेषण। प्रत्येक दर्शन विश्लेषण और संश्लेषण के मेलसे ही पूरा होता है। किन्तु भौतिक चिन्तन में विशेषतः विश्लेषण प्रधान सिद्ध होता है और आध्यात्मिक चिन्तन में संश्लेषण। (देखो मंत्र ६)।

शिष्य—यहां विश्लेषण और संश्लेषण कौनसे हैं?

गुरु—"पोषण+निरीक्षण+नियमन+प्रवर्तन+पालन" यह है ईशतत्त्व का विश्लेषण। 'परम कल्याण, यह है ईशतत्त्व का **संश्लेषण**।

शिष्य—मुझे तो यह "**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः**" सा-ही प्रतीत होता है। यथा-उपद्रष्टा (निरीक्षण) अनुमन्ता (नियमन) भर्ता (पालन) भोक्ता (प्रवर्तन) महेश्वरः (पोषण)।

गुरु—सौम्य! इतना ही नहीं; तीन प्रकार की और छह प्रकार की **शरणागति** का भी इसी में अन्तर्भाव कर सकते हैं। स्मरण रहे प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व प्राण-चित्त-कर्म-भाव-ज्ञान शक्तियों से बना है। इसके लिए क्रमशः हठयोग-राजयोग-कर्मयोग-भक्तियोग-ज्ञानयोग बनाये। परन्तु सर्वश्रेष्ठ आत्म-समर्पण-योग 'सोऽहमस्मि' है।

प्राण के लिए	हठयोग	पोषण
चित्त ,,	राजयोग	निरोधण
कर्म ,,	कर्मयोग	नियमन
भाव ,,	भक्तियोग	प्रवर्तन
ज्ञान ,,	ज्ञानयोग	पालन

शिष्य—'तत् ते पश्यामि' यह मानो छन्द के बाहर का है?

गुरु—हां, इसीलिए यह बिलकुल धीमे स्वरमें, बीच में ही बोलना है।

शिष्य—ईश्वर को 'अशब्दम् अस्पर्श अरूपम्' (कठ १।३।१५) आदिक से केवल 'अव्यक्त' कहा गया है। फिर उसके रूप का दर्शन कैसे हो सकता है?

गुरु—'अपिच संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्र सू ३।२।२४) एक अर्थ, श्रुति और स्मृतियों का निर्णय है कि ध्यानावस्था में अव्यक्त ईश्वर का भी दर्शन हो सकता है।" दूसरा अर्थ, ईश्वर का शब्द सुनना, ईश्वर का रूप देखना, ईश्वर के स्पर्श का अनुभव करना आदि सगुण साक्षात्कार का कई भक्तोंने तन्मयता-अवस्था में प्रत्यक्ष अनुभव किया है और तार्किक अनुमान से इसकी संगति भी बैठती है।" (देखो, चौथे मंत्र की व्याख्या)

शिष्य—क्या व्यापक ईश्वर एक ही स्थान पर आ सकता है? यदि आ सकता है तो वह व्यापक ही कैसा? यह बात गले के तले नहीं उतरती।

गुरु—गले के तले न उतारना हमारी कमी है, बातकी नहीं। रही बात व्यापक के एक स्थान पर आनेकी। इसमें भी कोई क्षति नहीं दीखती। अग्नि व्यापक है, फिर भी उसे एक स्थान पर लाते ही हैं। वह व्यापक-का-व्यापक भी रहता ही है। यह व्यापक का आना चार प्रकार का होता है। गरम पानी में आग आती है, लोहे में आग आती है, बिजली में आग आती है और चूल्हे में भी आग

आती है। जैसे पानी मे आगका आवेश है, लोहे में आगका प्रवेश है, बिजली में आग की स्फूर्ति है और चूल्हे में आग का आविर्भाव है। वैसे ही व्यापक ईश्वर का भी आना होता है। परशुराम आदि में ईश्वर का आवेश था, द्रौपदी के चीर में ईश्वर का प्रवेश था, नृसिंह में ईश्वरकी स्फूर्ति थी और महाराज दशरथ एवं नन्दबाबाके यहां ईश्वर का आविर्भाव था। अर्थात्–परशुराम आदि भगवान के **आवेशावतार** थे, द्रौपदी का चीर भगवान का **प्रवेशावतार** था नृसिंह रूप भगवान् का स्फूर्ति अवतार था एवं राम और कृष्ण, भगवान् के **आविर्भावावतार** थे।

शिष्य—यहां दो बार 'असौ–असौ' क्यों कहा?

गुरु—कुछ लोग एक 'असौ' को प्रथमार्थक 'असु' शब्द का सप्तम्यन्त एकवचन मानते हैं और वे ऐसा अर्थ करते हैं कि "जो यह प्राणों में पुरुष वह मैं हूं"। किन्तु श्रीविनोबाजी कहते हैं कि **'योऽसौ असौ पुरुष सोऽहम् अस्मि'** में दूसरा 'असौ' शब्द अवतरण अंकित है, वह जो 'असौ पुरुष कहा है मैं हूं, यह हुआ इस वाक्यका अर्थ। 'असौ पुरुष'=उस पारका, परात् पर पुरुष–परमेश्वर। वह जो उस पारका है वही बिलकुल इस पार का है, अर्थात् मैं ही वह हूं।"

शिष्य—'पुरुष' शब्द का आपने 'परमेश्वर' अर्थ कैसे कर डाला?

गुरु—मैंने अर्थ नहीं किया श्रुति (वेद) ने किया है। यथा हि 'सेम पप पूर्ण" (तै० २।५)–अपनी पूरक शक्तिसे देह को पूर्ण करता इसलिए 'पुरुष' है। "**पूर्वम् ओषत्**" (बृ० १।४।१)–पहले ही देह को जला चुका है, इसलिए 'पुरुष' है। "**पुरीततिं शेते**" (बृ० २।१।१६) तथा '**पुरि शेते**' (बृ० २।५।१८)–देह में हृदय की गुहा में पड़ा रहता है, इसलिए 'पुरुष' है। '**पुरं आविशत्**' (बृ० २।५।१८)–देह में प्रवेश किया है, इसलिए 'पुरुष' है। '**पूर्वम् अर्षत्**' (देखो मंत्र ४) ये सभी अर्थ (निर्वचन) उत्तम

भाव प्रगट करते हैं। परन्तु श्रीविनोबाजी का निर्वचन भी सुनने जैसा है तथा मानने योग्य सूझ है—' इस मंत्र में 'पूषन् एकर्षे' आदि पदों से ईश्वर को ईश्वरताकी व्याख्या की गई है। इसलिए इसके अनुसार मुझे लगता है कि-'पुरः ईष्टे '—अर्थात् देह पर शासन चलाता है—राज्य करता है, इसलिए 'पुरुष' है, यह निर्वचन यहाँ सूचित करना चाहिए (विनोबा)।

शिष्य—आप तो इस मंत्र में ध्यान करने बैठे थे, कहाँ आ निकले?

गुरु—यहाँ निकलना था वहीं निकला हूँ, अन्यत्र नहीं। जो यहाँ तक नहीं निकलता—नहीं पहुँचता, वह कच्चा ध्यानी है। ये ध्यान की तीन भूमिकाएँ हैं। विश्लेषण से प्राप्त पोषण—निरीक्षण—नियमन प्रवर्तन—पालन, पाच रश्मियां चिन्तनरूप पहली भूमिका है, संश्लेषणसे प्राप्त कल्याणतम तेज, यह दर्शनरूप दूसरी भूमिका है और "योऽसौ असौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि" यह समरसतारूप तीसरी भूमिका है। (ध्याता ध्यान ध्येय) त्रिपुटी का एक हो जाना ही सच्चा ध्यान है

शिष्य—'सोऽहम्' जप है या अनुभव?

गुरु—यहाँ यह अनुभव के रूप में आगे रखा है। साधक के लिए यह जप भी है। यह जप प्राणायाम के साथ करना चाहिए। दूसरे समय भी श्वास प्रश्वास के साथ यह जप करने में कुछ बाधा नहीं। योगशास्त्र में इसकी प्रक्रिया विस्तार-पूर्वक दी है। आत्मानुभव के बाद यह केवल 'जप' न रहकर 'अखंड जप' बन जाता है। इसे 'अजपा' भी कह देते हैं।

शिष्य—' सोऽहम् ' में जो एकता की अनुभूति (अनुभव) है, वह किस प्रकार की है? अर्थात् (क) प्रेमातिशयरूप? (ख) अंगांगिभावरूप? (ग) अंशांशिरूप? (घ) साधर्म्यरूप? अथवा (ङ) तादात्म्यरूप?

गुरु—जैसी जिसकी कल्पना वैसी। दूसरे के अनुभव के विषय में शाब्दिक चर्चा करनेसे वाद ही बढ़ेगा, बोध नहीं। अनुभव की वस्तु शब्दों में नहीं आसकती। उसका अनुभव करना ही योग्य है।

रस का स्वाद कौन बता सकेगा ? यह तो चखने पर ही पता चलेगा। इसलिए महर्षि नारदजी 'मूकास्वादनवत्' कह कर चुप हो गये।

शिष्य—आपने कहा है कि यह आदित्य के प्रतीक में ईश्वर का ध्यान है। अतः 'असौ पुरुषः' का 'आदित्यपुरुष' यह अर्थ क्यों न लिया जाय ?

गुरु—माध्यंदिन पाठ में पन्द्रहवें मंत्र का पूर्वार्ध और इस मंत्र का पाठ-भेदवाला अंतिम चरण लेकर 'आदित्य पुरुष' भी अर्थ किया है।

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥" इति।

यहां भी आदित्य शब्द से परमेश्वर ही लक्ष्य है। यह बात बृहदारण्यक के नीचे लिखे प्रवचन से ध्यान में आजायगी।

"यः आदित्ये तिष्ठन्, आदित्याद् अन्तरः, यम् आदित्यः न वेद, यस्य आदित्यः शरीरम्, य आदित्यम् अन्तरः यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः (बृ० ३।७।६)

स्मरण रहे–'सोऽहं सिद्धि' के बाद मुक्ति की स्वाभाविक अपेक्षा रहती है। इसलिए अगले मंत्र में मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रार्थना है। इसमें मुक्ति का स्वरूप और इस के अंग के रूप में अन्तकालिक साधना भी सूचित की गई है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर कृतं स्मर। १७॥

अर्थ—यह प्राण उस चैतन्यमय अमृत-तत्त्व में लीन होवे और फिर शरीर की राख हो जाय। ईश्वर का नाम लेकर, हे दृढ़ संकल्पमय जीव स्मरण कर। उसका किया स्मरण कर। हे मेरे जीव, स्मरण कर। अपने संकल्प छोड़कर उसका किया स्मरण कर।

शिष्य—क्या यह दूसरी ध्यान विधि है ?

गुरु—हां, यहां वायु के प्रतीक में ईश्वर का ध्यान करना है। जो अन्तर्यामी वायु का चालक है, वही मेरे प्राणों का चालक है। सत्य उसको सत्ता है। वायु और प्राण सुनहरे ढक्कन हैं। "मृत्योर् मा अमृतं

गमय" यह सूचित हुआ।

शिष्य—'वायुरनिलम्' का अर्थ खोल कर बताइए?

गुरु—वायुः (कर्ता) अनिलम् (कर्म) प्रतिपद्यताम् (अध्याहृत क्रियापद)। इसका पहला अर्थ है कि "वायु=शरीर गतवायु (प्राण) निरन्तर हलचल करनेवाले अनिल में (ब्रह्मांडगत वायु में) घुलमिल जाय।" इस अर्थ में यह वाक्य उपलक्षण स्वरूप है।

शिष्य—उपलक्षण किसे कहते हैं?

गुरु—'स्वार्थबोधकत्वे सति स्वेतरार्थबोधकत्वम् उपलक्षणत्वम्' अर्थात् जो अपने अर्थ का बोध कराकर अपने से भिन्न अर्थ का भी बोध कराता है; उसे उपलक्षण कहते हैं।

शिष्य—यहां इस वाक्यने अपने से भिन्न दूसरे किस अर्थ का बोध कराया है?

गुरु—यहां यह वाक्य "शरीर के वे सब तत्त्व अपने अपने मूल देवताओं में लीन हो जायँ" इस व्यापक अर्थ का बोध कराता है।

"गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठाः,
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा,
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।" (मुंडक ३।२।७)

अर्थात् पन्द्रह *कलाएं और सम्पूर्ण देवता (इन्द्रियें) अपने अपने अभिमानी देवताओं में जाकर स्थित हो जाते हैं। फिर सब कर्म और विज्ञानमय आत्मा-ये सब-के-सब परम अविनाशी पर ब्रह्म में एक हो जाते हैं। मुंडकने इसका ऐसा विवरण किया है।

इस वाक्य का दूसरा अर्थ—"जीव चैतन्यमय परमात्मतत्त्व में घुलमिल जाय"। वायुः=वाति=गच्छति इति वायुः=जीव। अर्थात् जीव उपाधियुक्त होकर एक देहमें से दूसरी देहमें जाया करता है।

---

* पन्द्रह कलाएं ये हैं—श्रद्धा, आकाशादि पंच महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक तथा नाम (देखो प्रश्नोपनिषद् ६।४)

इस प्रकार यह न जाय-निरुपाधिक होकर रहे। यही अभिलाषा यहां की गई है।

तीसरा अर्थ—यह वाक्य उस अर्थ को भी सूचित करता है। जो अन्तकालिक साधना में ईश्वर-स्मरण का उपायरूप प्राणनिरोध की सांख्यसाधना योगशास्त्रने बताई है; जिसका वर्णन गीताने अपने आठवें अध्याय में संक्षेप से किया है।

शिष्य—'अनिल' शब्द का सामान्य अर्थ 'चेतन' और विशेष अर्थ 'श्वसन आदि वायुक्रिया' कैसे कर दिया?

गुरु—इस संबंध में श्रीविनोबाजी लिखते हैं '*अनिल*' शब्द 'अन्'= (हलचल करना) इस धातु से बना है। सभी क्रियाओं में किसी-न-किसी प्रकार की हलचल होती ही है। इसलिए इसे धातुओं की भी धातु कहना चाहिए। संस्कृत में 'गमन' 'अशन' आदि क्रिया-वाचक संज्ञा बनाते समय जो 'अन' प्रत्यय जोड़ा जाता है, मैं मानता हूँ, वह 'अन्' धातु का ही रूप है। इस प्रकार मूलभूत और व्यापक धातु से ही 'अनिल' शब्द चैतन्य का वाचक बना है। इसके सिवा 'अन्' धातु का विशेष अर्थ "श्वसन आदि वायु क्रिया" होता है। 'प्राण' 'अपान' आदि में वह दिखाई देता है। उससे अर्थात् 'वायु' यह विशेष अर्थ निष्पन्न हुआ। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस मंत्र में ये दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं।"

शिष्य—११ वें और १४ में मंत्रमें 'अमृत' शब्द का **मोक्ष** अर्थ किया है और यहां 'ईश्वर' अर्थ क्यों किया?

गुरु—मोक्ष और ईश्वर एक ही हैं। मरण-राहित्य चैतन्य का लक्षण ही है। सब कुछ मरने के बाद जो बचता है वही चैतन्य है, ईश्वर है-मोक्ष है।

शिष्य—'*भस्मान्तं शरीरम्*' का क्या भाव है?

गुरु—यह दहन की विधि है जो वैदिक धर्म की एक विशेषता है। सभी लोग शरीर का स्मरण किसी-न-किसी प्रकार यथशक्ति बनाये

रखना चाहते हैं। पर यहां तब स्मरण के निःशेष लोप की अभिलाषा की है—'भस्मान्तं शरीरं (भूयात्)' यह है वैदिक साधकों की पवित्र व्याकुलता।

शिष्य—'अथ इदम्' में 'अथ' शब्द का क्या अर्थ है?

गुरु—यहां का 'अथ' शब्द बहुत महत्त्व का है। 'अथ' अर्थात् अनन्तर। पहले जीव परमात्मा में विलीन हो जाय और बाद में शरीर की राख हो जाय। यदि जीतेजी यह स्थिति प्राप्त न हुई तो यह दहनविधि एक नाटक ही होगी, नाटक से क्या लाभ? पहले जीवत्व की राख होने दो फिर इसके स्मारक के रूपमें शरीर की राख होने दो। पहले विजय फिर विजयोत्सव। मानव-शरीर मोक्ष के लिए है। अपना उद्देश्य सिद्ध करके ही यह दहन का अधिकारी हो सकता है।

शिष्य—'शरीर' शब्द की क्या व्युत्पत्ति है?

गुरु—शरीर शब्द की व्युत्पत्ति 'शृ' (फटना) और 'श्रि' (आश्रय करना) इन दो धातुओं से की जा सकती है। शरीर=शीर्ण होनेवाला फटा-भंगुर है। यह ध्यान में रख कर इसके विषय में आसक्ति न बढ़ावें। साथ ही यह साधना का आश्रय=स्थान भी है, यह समझकर उसे यथाप्राप्त भोग भी देते रहें। ऐसा दुहरा अर्थबोध शरीर शब्द दे रहा है। जो बात 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा.' में कही है वही कह रहा है।

शिष्य—पुस्तक के आदि में भी 'ॐ' और अन्तमें भी 'ॐ' यह क्यों?

गुरु—पुस्तक के ही आदि-अन्तमें नहीं, जीवन के आदि और अन्तमें भी 'ॐ' ही चाहिए। इसकी महिमा महान है। इसकी आकृति भी विचित्र और प्रकृति भी विचित्र। इसका उच्चारण भी विचित्र। यही एक ऐसा अक्षर है जिसका उच्चारण मनुष्य माता के उदर में सीखता है। यों भी कह सकते हैं कि जब जीव पूर्व शरीर छोड़ता है तब 'ॐ' का उच्चारण करके छोड़ता है। पूर्व शरीर का अन्त दूसरे

शरीर का आरंभ होता है। इसी को 'अन्त मति सो गति' भी कह देते हैं। यह ईश्वर का नाम है 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जप स्तदर्थभावनम्' (योगदर्शन)। तीनों वेदों को औटाया उनमें से यह सार निकला (छा॰ २।२३।३)। प्रायः सभी उपनिषदोंमें इसका विविध प्रकार से वर्णन आया है। नन्हा सा मांडूक्य तो ॐकार की व्याख्या में ही समर्पित है। ॐकार के ज्ञान से सारा वेदाभ्यास सफल और उसके बिना विफल।

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।
यस्तन्न वेद किम् ऋचा करिष्यति ॥" (ऋग्वेद)

अब तुझे श्रीविनोबाजी की कल्पना भी सुनाता हूँ। भाई! न जाने यह वैदिक काल का बूढ़ा बीसवीं सदी में कैसे आ गया। सुनो—

अक्षर के रूप में 'ॐ' वर्णमात्र का प्रतीक माना जाता है। उसका आरंभ 'अ' से है और अन्त 'म' पर। इन दोनों को जोड़ने वाला साथी है 'उ'। वर्णमाला का आरम्भ 'अ' से होकर 'म' पर समाप्त होता है। वर्ण का उद्गम कंठसे होता है और समाप्ति ओठ पर। 'अ' वर्णों का आदि कंठ से उच्चरित है और 'म' ओष्ठस्थान से उच्चरित अंतिम वर्ण है। 'म' का उच्चारण करते हुए हम दोनो ओठ मिला लेते हैं और नाक से भी कुछ काम लेते हैं। अतः 'म' के बाद कोई वर्ण नहीं। हम 'म' के बाद य, र, ल, व, की गिनती करते हैं; परन्तु वे आन्तर स्थान से उत्पन्न होनेवाले वर्ण हैं। कंठ और ओष्ठ के मध्य उनका स्थान है। कंठ और ओष्ठ के बीच के स्थान से उत्पन्न होनेवाले वर्णोंका प्रतिनिधि 'उ' मौजूद है। 'उ' का अर्थ है उभय, इधर और उधर की सन्धि मिलानेवाला। सारांश—सर्व सारस्वत, सर्व साहित्य, सर्व शुभाशुभ वाङ्मय 'ॐ' में आगये। यह उपपत्ति है तो काल्पनिक, परन्तु इस तरह सारी वाणीका एक प्रतीक कल्पित करने में व्यापक, विश्वरूप, ईश्वर-तत्त्व के चिह्न के तौर पर वह चिन्तन में उपयोगी होता है।" (स्थि॰ प्र॰ द॰, १४६)।

शिष्य—क्या ईश्वर के नामों में 'ॐ' नाम ही सर्वश्रेष्ठ है?

गुरु—ईश्वर के अनन्त गुण हैं और उन गुणों के वाचक अनन्त हैं नाम। सभी श्रेष्ठ हैं। साधक अपने में जिस गुण की कमी देखता है, उस गुण के वाचक नाम का अर्थभावनापूर्वक जाप करता है, जिससे वह उस गुण का चिन्तन करता करता स्वयं वैसा ही बन जाता है या वह गुण उसमें आजाता है। जैसे भूत से होनेवाले भय का चिन्तन करते करते हम भयभीत बन जाते हैं।

दसवें मन्त्र में ईश्वर का 'तत्' नाम आया है, पन्द्रहवें मंत्र में 'सत्य' और इस मन्त्र में 'ॐ'। ये तीनों ही ईश्वर के नाम ईश्वर के तीन पहलुओं को व्यक्त करते हैं। 'ॐ' शुभ अशुभ को, 'तत्' शुभ अशुभ से पर को और 'सत्य' या 'सत्' केवल शुभ को। गीताने इन तीनों को एकत्र करके "ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" कहा है।

शिष्य—यहां अन्त में अकेले 'ॐ' का स्मरण क्यों किया है?

गुरु—जीवन जन्म जन्मान्तर में अनेक शुभ और अशुभ संकल्प किये गये हैं, वे सब भूल जायें। इसलिए अंतिम प्रार्थना में शुभ और अशुभ को अपने पेट में समा लेने का सामर्थ्य रखने वाले 'ॐ' का ही यहां स्मरण करना ठीक है।

शिष्य—यहां जीव को 'क्रतु' शब्द से क्यों संबोधित किया गया है?

गुरु—'क्रतु' शब्दका अर्थ संकल्प होता है। जीवस्वरूप का यह ठीक ठीक और मार्मिकवर्णन है। क्योंकि संकल्प ही जीव है और निर्संकल्प शिव है। प्रार्थना में ईश्वर से यही मांग करनी है कि मेरी मांग ही समाप्त हो जाय। मांग के साथ साथ 'मेरी' (ममता) भी। अर्थात् 'मम' के स्थान पर 'तव' हो जाय। 'तू मेरा है' कहने में जो ममता का आभास होता है वह भी न हो 'मैं तेरा हूँ' बन जाय। जब 'मैं' तेरा बन गया तो मेरे 'संकल्प' भी तेरे ही हुए। मेरा कर्म, कर्मका फल, और कर्म करने का संकल्प

सब 'तू ही तू' या 'मैं ही मैं'। ठीक तो है "प्रेम गली अति सांकरी तहँ नहिं दोउ समायँ"। स्मरण रहे-'क्रतु' शब्द वेदों में बहुत बार आता है। उसका सामान्यतया 'संकल्प' अर्थ है। पर संकल्प और क्रतु में सूक्ष्म भेद है। 'क्रतु' शब्द 'कृ' धातुसे बनने के कारण वह कर्मप्रेरक संकल्प है। "यत्-क्रतुर् भवति तत् कर्म कुरुते" (बृ० ४।४।५) इस वाक्य में क्रतु और कर्मका संबन्ध जोड़कर बताया गया है। मामूली संकल्प आते हैं और जाते हैं। पर जिस संकल्प के अनुसार मनुष्य किसी कृति का आरंभ करता है, वह क्रतु है।....संकल्पः क्रतुः असु काम,...." (ऐतरेय ३।२) में यही सूक्ष्म भेद अभिप्रेत है। लौकिक भाषा में क्रतु=दृढ़संकल्प या कृतसंकल्प कहा जायगा।

शिष्य—'कृतं स्मर' में अपना किया स्मरण करना है या ईश्वर का?

गुरु—अब अपना रहा ही कहां? ईश्वर का किया स्मरण करना है। 'कृतं' शब्दसे नाम, रूप, गुण, कर्म, सभी लेने हैं। ईश्वर की कृति को, उसके महान् उपकार को, याद करें। उसका नाम, उसका रूप, उसके गुण गावें। अपना सब कुछ उसमें विलीन करके देहभाव भूल जावें। इससे अधिक कल्याणकारी मनुष्य के लिए और क्या हो सकता है?

भगवती गीता भी यही कहती है—

"ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् माम् अनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिम्।" ८।१३

शिष्य—परन्तु अन्य पुस्तकों में तो 'कृतं स्मर' का अर्थ 'अपना किया स्मरण कर' लिखा है?

गुरु—बेटा! यह अंतिम प्रार्थना है यह एक विशेष स्थिति का वर्णन है जो अनुभव गम्य है। यहां पहुँचने पर अपना पराया कुछ नहीं रहता। यदि रहता है तो उसीका ही। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं। 'सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।

सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥

नाथ! क्या हुआ जो हम दोनों एक बन गये। फिर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं। तरंगके समुद्र में मिलजाने पर भी 'समुद्र की तरंग है' ऐसा कहते हैं। पर 'तरंग का समुद्र है' ऐसा कोई नहीं कहता।

किन्तु यहां के चौथे चरण के स्थान पर "क्लिबे स्मर, कृतं स्मर" यह पाठान्तर है। उसका अर्थ है 'संकल्प.का उच्छेद करने के लिए ईश्वर का किया याद कर" अर्थात् इसमें ईश्वर के स्मरण का हेतु स्पष्ट कर दिया है। "क्लिप्" यह कृदन्त नाम 'क्लिप्' (काटना) इस प्राचीन धातुसे बना है। अर्वाचीन संस्कृत में 'क्लृप्' यह इसी धातुका रूप आया है। "क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः" मनुस्मृति के इस वचन में इसका प्रयोग काटने के अर्थ में मिलता है। इस पाठभेदसे यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि यहां ईश्वर का किया याद करना है न कि जीवका।

शिष्य—'क्रतो स्मर, कृतं स्मर' का दो बार उच्चारण क्यों किया है?

गुरु—अन्तकाल में ईश्वर-स्मरण की अत्यन्त आवश्यकता दर्शाने के लिए। जब किसी बात पर विशेष बल देना होता है तो द्विरुक्ति की जाती है जैसे 'पकड़ो पकड़ो'।

स्मरण रहे-इस मंत्र में मोक्षका पूरा स्वरूप रख दिया है १. शरीरकी राख हो जाय। २. प्राण आदि सूक्ष्म तत्त्व उन-उन देवताओं में लीन हो जायें। ३. ईश्वर के चिन्तन से संकल्पका उच्छेद हो जाय। ४. और परमात्मा में मिल जाय।

शिष्य—'अन्तकाल में ईश्वर-स्मरण हो इसका क्या उपाय या साधन है?

गुरु—'अंतकाल में ईश्वर-स्मरण हो' यदि ऐसी इच्छा है तो ईश्वरस्मरण करो। स्मरणसे स्मरण होता है। तैरने से तैरना आता है और लिखने से लिखना।

शिष्य—हम स्मरण तो करते हैं, पर उसकी भांकी क्यों नहीं होती?

गुरु—मैं कैसे मानूं। किसी सुन्दर देवी का स्मरण करते हैं तो स्वप्न में झांकी होती है। खट्टे का स्मरण करते हैं तो झांकी होती है और किसीसे लड़ाई-झगड़ा करते हैं तो झांकी होती है। ईश्वर-स्मरण तो हो पर झांकी न हो, यह कैसे हो सकता है।

शिष्य—आप देखते ही हैं, रोज माला फिराता हूँ। फिर झांकी क्यों नहीं होती?

गुरु—माला ही फिराते हो स्मरण नहीं करते। स्मरण तो भावपूर्वक होता है। जब भाव पैदा होगा तब माला भी भूल जाओगे। माला तो माला दूसरे भाव भी भूल जायेंगे। काम भाव में स्पर्शास्पर्श का भाव भूल जाते हैं। क्रोधभाव में अपना-पराया भाव भूल जाते हैं। भावपूर्वक ईश्वर स्मरण में ऊंच-नीच का भाव नहीं रहता। "जाति पाति का भेद न कोई। हरि को भजै सो हरिका होई"

शिष्य—वह भाव पैदा कैसे हो?

गुरु—भाववालों का सम्पर्क साधने से।

शिष्य—यदि ऐसे लोग न मिलें तो?

गुरु—सारा जीवन तद्भाव-भावित होना चाहिए। आदि से अंत तक पवित्र, निर्मल जीवन व्यतीत करने का यत्न करना चाहिए।

शिष्य—यत्न में सफलता कैसे मिले?

गुरु—भगवत्-प्रार्थना से। यह अगले मंत्र में है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोध्यस्मज् जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

अर्थ—हे मार्गदर्शक देदीप्यमान प्रभो, विश्व में बुने हुए सब तत्त्व तू जानता है। हमें सरल मार्ग से उस परम आनंद की ओर ले जा। टेढ़ा करनेवाला पाप तू हमसे दूर हटा। तेरी हम बार-बार नम्र वाणी से विनय करते हैं।

शिष्य—क्या यह तीसरी ध्यानविधि है?

गुरु—हां' यहां अग्नि के प्रतीक में ध्यान करना है। जो अन्तर्यामी अग्निका उद्दीपक है, वही मेरे शरीर का भी उद्दीपक है। 'सत्य' उसकी संज्ञा है। अग्नि और शरीर सुनहरे ढक्कन हैं।

दूसरी बात–वेदों की यह रीति है कि जीवन का प्रत्येक महान् कार्य अग्नि की साक्षी में किया जाता है, जैसे-विवाह आदि। उसके अनुसार इस मंत्र में अग्नि से चारित्र्य की प्रार्थना की गई है। अर्थात् यह अग्नि की साक्षिता में चारित्र्य की प्रतिज्ञा है।

शिष्य—' अग्नि ' शब्द का यहां कौनसा अर्थ लेना है ?

गुरु—'अग्नि' शब्द की निरुक्ति यास्क ने अनेक प्रकार से दी है। उनमें से अग्नि=' अग्रणी ' यह निरुक्ति यहां लागू होती है। क्योंकि इस मंत्र में अग्निसे मार्ग-दर्शन की अपेक्षा की गई है। व्युत्पत्ति-शास्त्रके अनुसार 'अञ्ज्' (व्यक्त होना=प्रकाशित होना) धातु से ' अग्नि ' शब्द बना है। जो कुछ भी प्रगट हुआ है, उस सब को अग्नि का रूप समझना है। इसके अतिरिक्त अग्नि प्रकाशक होने के कारण ज्ञान-स्वरूप भी माना गया है। इसलिए वेदों में उसे ' जात-वेदस् ' और इस मंत्र में ' विद्वान् ' कहा है। अग्नि शब्द का अर्थ है–'विश्वरूपसे व्यक्त हुआ, विश्वतत्त्व का जाननेवाला, विश्व का मार्ग-दर्शक ' सगुण साकार ' परमेश्वर '।

शिष्य—यह ' सुपथ '=सीधा रास्ता कौनसा है ?

गुरु—पन्द्रहवें मंत्रका 'सत्यधर्म' वेद-प्रतिपादित 'ऋतुनीति' योगशास्त्र का 'यम-नियम,' गीता का 'कायिक वाचिक-मानसिक तप' मनुका सार्ववर्णिक 'मानव-धर्म' जैन एवं बौद्धों का 'चारित्र्य, 'कुरान का ' सिरात्उल् मुस्तकीम् ' संतों से अनुभूत सरल ' सिद्धपंथ '।

शिष्य—इनमें से शीघ्र पार करनेवाला कौनसा मार्ग है ?

गुरु—जिस पर चल पड़ो वही। जितनी तेजीसे चलोगे उतना ही शीघ्र पहुंच जाओगे। मार्ग मनुष्य पर नहीं चलता, मनुष्य मार्ग पर चलता है।

शिष्य—कहते हैं कि साध्य ठीक होना चाहिए, साधन भले कैसा ही हो।

क्या आप इसे नहीं मानते ?

गुरु—कुछ मानता भी हूँ और कुछ नहीं भी। परन्तु श्रीविनोबाजी लिखते हैं कि—यह भ्रम आदिकालसे अबतक चला आ रहा है। उसका निवारण 'सुपथा' शब्द कर रहा है। साधनगत अपवित्रता साध्य को दूषित किये बिना नहीं रह सकती, यह शास्त्र है।"

शिष्य—आप श्रीविनोबाजी के विचार से सहमत हैं।

गुरु—बिलकुल, सोलह आने। क्योंकि समाज में रहनेवालों पर अंकुश होना ही चाहिए। बिना अंकुश के समुदाय नहीं रह सकता।

शिष्य—जंगल में हाथियों का समुदाय=झुण्ड होता है। वह निरंकुश कैसे रहता है ?

गुरु—इसलिए कि वह जंगल में है जब नगर में आवेगा तो उस पर भी अंकुश रखना ही पड़ेगा। मनुष्य जंगली नहीं, अतः अंकुश की आवश्यकता है। स्मरण रहे—अपने पर दूसरों का अंकुश आत्मा की अवनति करता है और अपने पर अपना अंकुश आत्मा की उन्नति। अपना या अपनों का अनुभव ही शास्त्र है। इसलिए शास्त्रीय अंकुश उन्नतिकारक है, अवनति कारक नहीं।

शिष्य—आपने कहा था कि 'कुछ मानता भी हूँ और कुछ नहीं भी' नहीं भी कैसे ?

गुरु—यह सामुदायिक प्रार्थना है। क्योंकि 'अस्मान्' समुदाय का वाचक है। समुदाय के लिए 'सुपथ' की परम आवश्यकता है। पर कुछ ऐसे महापुरुष भी देखने में आते हैं। जिनका मार्ग 'सुपथ' नहीं कहा जा सकता। जैसे शराब पीना आदि। पर हैं वे वस्तुतः महापुरुष ही। मानना होगा कि वह मार्ग व्यक्तिगत हो सकता है, सामाजिक नहीं। '**निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः**' शास्त्र भी कहता ही है।

शिष्य—निस्त्रैगुण्य की क्या पहचान है ?

गुरु—उसकी पहचान न करना ही उसकी पहचान है। क्योंकि हम जो

पहचान करेंगे वह गुणों की ही होगी। पर वह तो गुणों से पर है। अत पहचान की आवश्यकता ही नहीं। स्वय को पहचानो।

शिष्य—राये=परम आनन्द की ओर में रै' का 'परम आनन्द' अर्थ कैसे किया ?

गुरु— रै' और 'रय' ये दो शब्द वेदों में बार बार आते हैं। मूलत एक ही शब्द के ये दो रूप हैं। फिर भी उन में अर्थ की छटाएं भिन्न भिन्न हैं। 'रयि' शब्द का अर्थ समृद्धि होता है। 'रयिर् वै एतत् सर्वं यन् मूर्तं च अमूर्तम् च' (प्रश्नोपनिषद् १।५) अर्थात् मूर्त और अमूर्त सभी 'रयि' है। रै' शब्द मुख्यतया आनन्द का वाचक है। उसका दूसरा रूप 'रे' भी होता है। रेवा' शब्द में वह उपलब्ध है। 'रे–वा'=नर्म=दा, आनन्द देनेवाली आनन्दमयी। पर रै और 'रयि' दोनो मूल में एक ही होने के कारण, अर्थ की दोनो छटाओ को मिला कर इस मंत्र में रै' का अर्थ 'परम आनन्द' निकाला गया है।

शिष्य—' परम आनन्द ' किसे कहते हैं ?

गुरु—१६ वें मंत्र में वर्णित 'ईश्वर-दर्शन' और १७ वें मंत्रमें वर्णित 'ईश्वर प्रवेश' ही परम आनन्द' है। यही 'रयि' है। "एषा अस्य परमा गति। एषा अस्य परमा सम्पत्। एष अस्य परम आनन्द। एतस्य एव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृ० ४।३।३२।) "यो रायोऽवनिर् महान्" (ऋग्वेद १।४।१०) अर्थात् जो परम आनन्दका धाम है।

स्मरण रहे-यहां 'रै' शब्द धन के विरोधी रूप में आया है। अर्थात् जीवन का साध्य रै' है न कि 'धन'। उचित मार्ग से कमाया हुआ धन भी आनन्द का एक साधन हो सकता है। पर अकर्मण्यता से और कुरी वृत्ति से धन कमाना सामाजिक तथा आध्यात्मिक आनन्द की नाव ही उखाड़ फेंकना है। इस तरह का धन धन ही नहीं, वह तो निधन (विनाश) है। यही उपनिषदों की

आध्यात्मिक भाषा में 'वित्तेषणात्याग' है और मनुजों की सामाजिक भाषा में 'अर्थशुचिता' है। इसी का प्रत्यक्षबोध मंत्र पहले और दूसरे में दिया जा चुका है उसी को ८ वें १५ वे और इस अंतिम मंत्र में सूचना देकर दृढ़ किया गया है।

शिष्य—पिछले दो मंत्रों में 'अहं' 'क्रतो' (मम जीव) आया हुआ एकवचनान्त प्रयोग (अस्मान्) बहुवचन में किस लिए पलट गया?

गुरु—इसलिए कि यह सामुदायिक प्रार्थना है।

शिष्य—ऐसा कहने में क्या आपत्ति है कि ईश्वर-दर्शन (मंत्र १६) और ईश्वर-प्रवेश (मंत्र १७) से उसके व्यक्तित्व का लोप हो गया?

गुरु—आपत्ति तो विशेष नहीं। पर ईश्वर-दर्शन और ईश्वर-प्रवेश व्यक्तिगत साधन हैं। वे उन उन व्यक्तियों तक ही सीमित रहेंगे। ऐसे व्यक्ति भी लाखों में एक दो ही मिलेंगे। इन के संसारका नाश हो जाने पर भी दूसरों का संसार तो बना ही रहेगा "कृतार्थं प्रति नष्टमपि अनष्टं तद् अन्यसाधारणत्वात्" (पा. द. २।२२) पर चारित्र्य साधना के लिए ऐसी बात नहीं। वह तो सामुदायिक हो सकती है। हो सकती हो नहीं करनी ही चाहिए। क्योंकि सामुदायिक रूप में वह पूर्ण होती है और कसौटी पर भी चढ़ती है। इसलिए एक प्रकारसे वह सुलभ (सुगम) भी हो जाती है। यही सामुदायिक साधना का दुर्गम है। स्मरण रहे- पिछले १५ वें मंत्र में सत्यधर्म के दर्शन के विषय में प्रार्थना है और यहां सत्यधर्म के आचरण के विषय में।

शिष्य—'वयुन' शब्द का क्या अर्थ है और उसके ज्ञान से क्या लाभ है?

गुरु—'वे' (बुनना, गूंथना, पिरोना) धातु में 'अन' और 'उन' प्रत्यय जोड़ने से 'वयन' और 'वयुन' ये दो शब्द बनते हैं। वयन=बुनने की क्रिया। वयुन बुनावट, गूंथन, अनुस्यूति, जीवन में पिरोये हुए या व्याप्त तत्व। [redacted] प्रकार की अनुस्यूतियों (वयुनों) के ज्ञान से बड़ी लाभ है कि जितना जितना इनका ज्ञान होता जाता है उतना उतना

ही कर्तव्य-पथ स्पष्ट होता जाता है। जैसे प्राणिमात्र को (जिजीविषा) जीने की इच्छा होती है (मंत्र २), यह वयुन (ज्ञातव्यतत्त्व) समझ में आजाने पर **अहिंसाधर्म** प्रवाह से ही प्राप्त हो जाता है। 'मैं एवं अन्य भूत एक दूसरे से मिले हुए हैं' (मंत्र ६) यह वयुन जँच जाय तो यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती कि किसीके प्रति जुगुप्सा-घृणा न करें।

शिष्य—'**युयोधि**' क्रियासे क्या तात्पर्य निकलता है?

गुरु—'यु' (दूर करना) धातुका यह रूप माना जाता है। पर 'युध्' (लड़ना) धातुका भी यह रूप हो तो वैदिक व्याकरण कोई रुकावट नहीं डालेगा। इसलिए दोनो अर्थों को मिलाकर इसका अर्थ 'खदेड़-देना' करना योग्य है। साधक को ईश्वर-स्मरण-पूर्वक पाप से निरंतर लड़ते रहना चाहिए, यही इस प्रार्थना में आई 'युयोधि' क्रियासे तात्पर्य निकलता है। "**तस्मात्सर्वेषु कालेषु, मामनुस्मर युध्य च**"

(गी० ७।७)

शिष्य—'जुहुराणम् एनः' का मतलब?

गुरु—एनस् (पाप) की 'जुहुराणम्' यथार्थ व्याख्या है। "'हृ' कुटिल-गतौ" से 'जुहुराणम्' बना है। जिसका अर्थ '**टेढ़ाजानेवाला**' है। टेढ़ापन ही पाप है और सरलता पुण्य है। वेदों में पाप की 'दुरित' और पुण्य की 'सुवित' संज्ञाएँ आती हैं, इनका अक्षरशः अर्थ दुरित=टेढ़ाजाना, और सुवित=सीधा जाना ही है।

शिष्य—यहां '**नम उक्तिम्**' की क्या आवश्यकता पड़ी?

गुरु—यहां मन की प्रतिज्ञा ली है। प्रतिज्ञा के लिए नमना का सहारा आवश्यक है। प्रतिज्ञा तथा नम्रताकी सहायता से मन की रक्षा होती है। यही '**रामरक्षा**' मंत्र है और यही '**अग्नि-साक्ष्य**' है।

शिष्य—हम से प्रतिज्ञा क्यों नहीं होती?

गुरु—हम 'महान्' नहीं इसलिए।

शिष्य—'महान्' कैसे बना जाता है?

गुरु—प्रतिज्ञा से। सुनो–श्रद्धा के बिना वीर्य=उत्साह नहीं होता, बिना वीर्य के धैर्य नहीं होता, बिना धैर्य के प्रतिज्ञा नहीं होती, बिना प्रतिज्ञा के महान् कार्य नहीं होता, और बिना महान् कार्य किये कोई महान् नहीं बनता।

शिष्य—ऋग्वेद (१।१८९।१) में यह मंत्र, हाथ से कोई निन्दित कर्म हो जाने पर या मार्गभ्रंश हो जाने पर जप के लिए कहा है। यहां तो कोई ऐसा कर्म नहीं बना, फिर यहां यह मंत्र क्यों?

गुरु—वहां इस मंत्र का नैमित्तिक विनियोग है और यहां यह मंत्र जीवन में नित्य का मार्ग दिखानेवाला साथी है।

थोड़ासा पाठ-भेद छोड़ दें तो यह उपनिषद् यजुर्वेद का अंतिम अध्याय है। इसलिए यह मंत्र भी यजुर्वेदगत ही है। पर मूल यजुर्वेद में यह ऋग्वेद से ही अवतरित हुआ है।

शिष्य—माध्यंदिन पाठ में "ॐ खं ब्रह्म" यह अंतिम निर्देश है। पर इस उपनिषद् में तो 'ब्रह्म' शब्द ही नहीं आया। इसका क्या समाधान है?

गुरु—"ॐ खं ब्रह्म" में ॐकार का संग्रह सत्रहवें मंत्र में हुआ है। यद्यपि 'ब्रह्म' पद का स्वरान्द से उल्लेख नहीं आया तो भी मंत्र ४–५ का नपुंसकलिंगी प्रयोग उसीको लक्ष्य करता है (देखो मंत्र ४)। शेष रहा 'खं' अर्थात् आकाशवत् व्यापक। यह उपासना के लिए समझना चाहिए। अन्यथा ब्रह्म की व्याप्ति के आगे आकाश की गिनती ही क्या? (देखो मंत्र ५)

१६–१७–१८ यह ध्यानत्रयी मिलाकर एक सम्पूर्ण चिन्तन है।

ॐकारकी तीन मात्राएँ—भू, भुव, स्व।

इन के आधिभौतिक अर्थ–पृथ्वी, अंतरिक्ष, स्वर्ग।

" आधिदैवत अर्थ–अग्नि, वायु, सूर्य।

" अध्यात्म अर्थ–शरीर, प्राण, बुद्धि।

शिष्य—आपने तो एक दिन कहा था कि जब भगवान् का मन न लगा

तो उसने भावना की "**एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय**" फिर अनेक रूप गढ़ लिये गये और उनकी पहचान के लिए उनके नाम रख दिये। अर्थात् १ भगवान्, २–भावना, ३–रूप, ४–नाम। पहले एक नाम पकड़ो, फिर उसके अनुसार रूप की कल्पना करो। उस रूप के साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध जोड़ो—यही भाव है। इस भाव में इतने तन्मय हो जाओ कि भ्रमरकीट की तरह 'सोऽहं' बन जाओ। पर इस उपनिषद् में (तथा वेदों में) तो अनेक देवताओं के नाम भरे पड़े हैं। यह कैसी उलझन ?

गुरु—बेटा, यह उलझन नहीं सुलझन है। वेद कहता है "**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**" परमेश्वर एक है उपासकोंने उसे अनेक नाम दिये हैं। सम्पूर्ण परमेश्वर एक ही अभिव्यक्ति में न समाने के कारण पहले हम उसकी भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियों का विश्लेषण करें, बाद में उन सब का संश्लेषण करें। अन्त में उसके भी पार जा कर '**सोऽहमस्मि**' के अनुभव में घुस जायें। इस प्रकार यह परिपूर्ण उपासना प्रक्रिया है। इसका विवरण मंत्र १६ में हो चुका है।

वेदार्थ-मीमांसा के आचार्य जैमिनि ने अग्नि वाचक 'वैश्वानर' शब्द की चर्चा करते समय कहा है कि यदि 'वैश्वानर' शब्द को अक्षरार्थ से भी साक्षात् ईश्वर-वाचक समझा जाय तो कोई आपत्ति नहीं (ब्र॰ सू॰ १।२।२८)। यही न्याय व्यापक करें—

सूर्य=वाच्यार्थ से 'प्रेरक' परमेश्वर।

अनिल=वाच्यार्थ से 'चैतन्यमय' परमेश्वर।

अग्नि=वाच्यार्थ से 'देदीप्यमान-मार्गदर्शक' परमेश्वर।

ये अर्थ ध्यान में रखने से सब स्पष्ट हो जाता है।

शिष्य—क्या सूर्य आदि विशेष अभिव्यक्ति अर्थ नहीं लेना ?

गुरु—क्यों नहीं लेना, लेना है। यह एक व्यापक समन्वय-दर्शन है। इसीलिए इस अपने प्रबन्ध का नाम भी मैं "ईशावास्य-दर्शन" ही रखूंगा।

शिष्य—इस उपनिषद् के अंत में 'पदाभ्यास' क्यों नहीं?

गुरु—श्रीविनोबाजी का कहना है कि "उपनिषद् आदि की समाप्ति में अंतिम एक दो पदों की द्विरुक्ति करने की रूढ़ि है। यही शास्त्रीय भाषा में 'पदाभ्यास' है और वह समाप्ति का सूचक माना जाता है। इस प्रकार का पदाभ्यास ईशावास्य के अंत में दिखाई नहीं देता। पर १७ वें मंत्र में पाया जाता है। क्योंकि यह अठारहवां मंत्र ईशावास्य ने विषय की पूर्ति के लिए ऋग्वेद से सीधा ले लिया है। उस के बिना ईशावास्य का विवेचन अपूर्ण ही रहता, इस कारण यह ईशावास्य का अंगभूत ही है, पीछे से जोड़ा हुआ नहीं। पर अठारहवें मंत्र के अंत में पदाभ्यास क्यों नहीं? वह इस प्रकार ध्यान में आता है। कायदा पदाभ्यास इस में न होने पर भी उस के बदले तदन्तर्गत "भूयिष्ठां ते नम उक्तिम्" ये पद ग्रन्थ की परिसमाप्ति सूचित करते हैं।"

शिष्य—यह तो श्रीविनोबाजी का कथन हुआ, आप का क्या कथन है?

गुरु—मेरी समझ में 'पदाभ्यास' को रूढ़ि न कह कर भाव प्रगट करने का स्वाभाविक प्रकार कहना चाहिए। रूढ़ि उस चाल का नाम है जो बिना किसी भाव के चल पड़ी हो। हर्ष के भाव में 'वाह वाह' क्रोध के भाव में 'मारो मारो' भय में 'साप साप' किसी बात पर जोर देने के लिए 'पकड़ो पकड़ो' आदि में स्वाभाविक द्विरुक्ति हो जाती है। 'पदाभ्यास' में भी समाप्ति का हर्ष, कहीं कहीं भक्ति का उद्रेक, ईश्वर-दर्शन का उल्लास, सफलता की प्रसन्नता आदि भाव रहते ही हैं। 'गीता प्रवचन' के अन्त में श्रीविनोबाजीने कहा है कि "अब तो सब 'तूही, तूही, तूही'" यह है हृदय की वाणी। उच्चारणमात्र से हृदय भर आता है, पुस्तक हाथ से गिर पड़ती है, उन की अहेतुकी दया का स्मरण आते ही शब्द रुक जाता है और गला रुँध जाता है। श्रीविनोबाजी का हृदय तो तीन ही धाराओं में फूट कर बहा है। पर भगवान् का विश्वरूप देखने के बाद अर्जुन की तो विलक्षण ही स्थिति हो गई। भावका सागर ही उमड़ पड़ा। वह बोल उठा—

"नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व;
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।
नम पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते,
नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व ।"

कैसा है यह पागलपन। एक प्रणाम नहीं, हजारों। वे भी एक ओर से नहीं चारो ओर से। एक ही बार नहीं किन्तु भूय । यह है दर्शन का उल्लास। ठीक इसीप्रकार ईशावास्य के अन्त में भी हुआ है। यह भावोद्रेक द्विरुक्ति में समानेवाला नहीं। अर्जुन तो एक था, यहां तो समुदाय है-'अस्मान्' है। इस लिए वह भाव "भूयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम" के रूप में फूट पड़ा। यह वर्तमान की 'श्री १००८' या 'अनन्तश्रीविभूषित' वाली हृदय हीन उक्ति नहीं, किन्तु इस में हृदय की झांकी होती है। अस्तु, आओ बेटा, अन्त में हम भी मिलकर कहें कि–

"एक मंत्र औ ध्यान एक है, यही एक पूजा तेरी।
युग युग बनी रहे यह मां! अय, मैं बेटा तू मां मेरी।"

ॐ। पूर्णमद पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(इसका अर्थ आरंभ में दिया है।)

* ॐ तत्सत्, श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु *

—•—

परिशिष्ट

शिष्य—गुरुदेव! एक बात पूछूं? यदि रुष्ट न हों तो।

गुरु—पूछो बेटा, रूठने की क्या बात है।

शिष्य—सब लोग '**इन्द्रियां**' बोलते और लिखते हैं। पर आप '**इन्द्रियें**' क्यों बोलते हैं?

गुरु—अच्छा, तुम्हीं बताओ कि '**इन्द्री**' शब्द होता है या '**इन्द्रिय**'?

शिष्य—'इन्द्रिय'।

गुरु—तब तो '**इन्द्रियें**' ही बोलना और लिखना ठीक है। कुछ लोग तो अभी तक भी '**विधियां**' के स्थान पर '**विधियें**' बोल और लिख रहे हैं, एवं 'श्रुतियें' 'स्मृतियें' आदि। स्त्रीलिंग अकारान्त शब्दों के अन्त में (प्रथमाके बहुवचन में) 'एं' होता है; जैसे पुस्तकें, सड़कें आदि। हां, पंजाबी में-पुस्तकां सड़कां-इन्द्रियां आदि अवश्य होता है। अस्तु, यह अपना प्रकृत विषय नहीं। इसलिए कोई दूसरी बात पूछो। यदि तुम्हें इस विषय का रस हो तो श्रीरामचन्द्र वर्मा की '**अच्छी-हिन्दी**' अथवा अपनी '**आदर्श हिन्दी**' नामक पुस्तक देखनी चाहिए।

शिष्य—अच्छा, आपने उपोद्घात में कहा था कि "**यह उपनिषद् गीता की जननी है।**" पर लोक में देखते हैं कि मां बड़ी होती है और बेटी छोटी। यहां मां छोटी है और बेटी बड़ी।

गुरु—जब हम '**जननी**' के लिए '**बड़ा**' शब्द का प्रयोग करते हैं; तब हमारा तात्पर्य ज्येष्ठता (कालकृत बड़प्पन) से होता है जब कहते हैं कि 'गीता बड़ी है और उपनिषद् छोटी है' तब हमारा अभिप्राय आकार से होता है। देखा जाय तो मा की अपेक्षा बेटी का ही आकार बड़ा होता है जैसे बीज से वृक्ष का। बेटी के ही आगे शाखा-प्रशाखाएं चलती हैं। यह दूसरी बात है कि किसी की अपेक्षा वह बेटी भी मां होती हो।

शिष्य—आप बताइएगा कि यह जननी कैसे है?

गुरु—तुम्हीं कहो कि यह जननी कैसे नहीं?

शिष्य—" विसृज्य सशरं चापं, शोक-संविग्न-मानसः " यह गीता के प्रथम अध्याय का उपक्रम (आरंभ) और अठारहवें अध्याय का "नष्टो मोहः स्मृतिः लब्धा, त्वत् प्रसादाद् मयाऽच्युत।" यह उपसंहार (समाप्ति) ईशावास्य में कहां है?

गुरु—यदि तुम्हारी दृष्टि बीज में वृक्ष देख सकती हो तो देखो ईशावास्य के ७ वें मंत्र के 'तत्र को मोहः कः शोकः" में गीता का उपक्रम और उपसंहार।

शिष्य—गीता के दूसरे अध्याय की 'सांख्यबुद्धि' और 'योगबुद्धि" इसमें कहां है?

गुरु—मंत्र ९ से १४ तक वर्णित 'बुद्धि-शोधन' और 'हृदय-शोधन' सांख्यबुद्धि और योग बुद्धि नहीं तो और क्या है?

शिष्य—तीसरे अध्याय के 'कर्मयोग' की 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (३-५) 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' (३-८) 'कार्यं कर्म समाचार' (३-१९) 'नहि देहभृता शक्यं, त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' (१८-११) आदि आज्ञाएँ इसमें कहां हैं?

गुरु—दूसरे मंत्र के 'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति' में

शिष्य—चौथे अध्याय का 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' अर्थात् दुष्टता-नियमन और साधुता-प्रेरण रूप दुहरा अवतार कार्य इसमें कहां है?

गुरु—सोलहवें मंत्र के 'यम सूर्य' इन दो विशेषणों में। यम=नियमन-कर्ता (अशुभ की ओर से) सूर्य=प्रवर्तन-कर्ता (शुभ की ओर)।

शिष्य—पांचवें अध्याय का 'पश्यन् शृण्वन् स्पृशन्' आदि ज्ञेयवर्णन इस में कहां है?

गुरु—मंत्र चौथा और पांचवा देखो।

शिष्य—छठे अध्याय का 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!' एवं 'सर्वभूत-स्थितं यो मां, भजत्येकत्व मास्थितः' यह आत्मौपम्य और साम्ययोग कहां आता है ?

गुरु—मंत्र छठे 'सर्वभूतेषु चात्मानम्,' और सातवें 'एकत्वमनुपश्यत.' में देखो।

शिष्य—सातवें अध्याय की त्रिगुणमयी माया (योगमाया) कहां आती है ?

गुरु—पन्द्रहवें मंत्र का 'हिरण्मयपात्र' ही योगमाया है।

शिष्य—आठवें अध्याय में वर्णित प्रयाण साधना (सातत्ययोग) इस में कहां आता है ?

गुरु—मंत्र १६वें के 'वायुरनिलम्' में देखो।

शिष्य—नवम अध्याय की राजविद्या (समर्पणयोग) कहां आता है ?

गुरु—पहले मंत्र के तीसरे पाद 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' में।

शिष्य—दसवें अध्याय का 'विभूतियोग' और ग्यारहवें अध्याय का 'विश्वरूपदर्शनयोग' कहां आता है ?

गुरु—मंत्र सोलहवें के 'व्यूह' शब्द में दसवां अध्याय और 'समूह' शब्द में ग्यारहवां अध्याय आ गया।

शिष्य—बारहवें अध्याय के 'लोकान्नोद्विजते च यः' आदि भक्तलक्षण इस में कहां है ?

गुरु—छठे मंत्र के 'ततो न विजुगुप्सते' में।

शिष्य—तेरहवें अध्याय का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक कहां आता है ?

गुरु—आठवें मंत्र के 'अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम्' में।

शिष्य—चौदहवें अध्याय का 'मूढयोनिषु जायते' वाला गुणविभाग इस में कहां है ?

गुरु—तीसरे मंत्र के 'अन्धेन तमसावृताः' में देख सकते हो।

शिष्य—पन्द्रहवें अध्यायका 'पुरुषोत्तमयोग' कहां देखें ?

गुरु—१६वें मंत्र के 'योऽसौ असौ पुरुषः सोऽहमस्मि' में देखो।

शिष्य—१६वें अध्याय की 'आसुरी सम्पत्ति' की गति कहां ढूंढें ?

गुरु—तीसरे मंत्र के 'असुर्या नाम ते लोकाः' में।

शिष्य—सत्रहवें अध्याय के 'ॐ तत् सत्' इस ब्रह्मनिर्देश के दर्शन कहां करें ?

गुरु—दसवें (ये नः तत् विचचक्षिरे) मंत्र का 'तत्', १५वें (सत्य स्यापिहितं मुखम्) मंत्र का 'सत्य' और १७वें (ॐ क्रतो स्मर) मंत्र का 'ॐ' मिलाकर 'ॐ तत् सत्' बनालो। [यहां 'सत्' शब्द के स्थान पर 'सत्य' शब्द का प्रयोग हुआ है]

शिष्य—अठारहवें अध्याय का संकेत कहां आता है ?

गुरु—बता तो दिया कि अठारहवां अध्याय गीता का उपसंहार है। जहां पहला अध्याय आता है वहीं अठारहवां।

शिष्य—ठीक ही श्रीविनोबाजीने लिखा है कि "ईशावास्य वेदोंका सार है और गीता का बीज"।

गुरु—ठीक ही नहीं, बिलकुल ठीक। मैंने 'बीज' शब्द के स्थान पर 'जननी' शब्द रख दिया है।

शिष्य—गीता में 'मीमांसा' शब्द क्यों नहीं आया ?

गुरु—ईशावास्य में नहीं आया इसलिए।

शिष्य—अच्छा तो बताइए मंत्र ८, १०, ११, का 'अविद्या' शब्द गीता में क्यों नहीं आया ?

गुरु—इसलिए, कि यहां का 'अविद्या' शब्द उस अर्थ में नहीं आया जिस अर्थ में दूसरे स्थानों पर आता है। यही कारण है कि यहां के विद्या और 'अविद्या' शब्द का अर्थ करते समय टीकाकार चक्कर में पड़ गये।

शिष्य—गीता में इस 'अविद्या' शब्द का कौनसा पर्याय आया है ?

गुरु—'अविद्या' का अर्थ है-अनावश्यक ज्ञान का चिन्तन न करना-भूल जाना। इसे ही गीताने 'न किंचिदपि चिन्तयेत्' कहा है; अर्थात्-व्यर्थ ज्ञान का-जो बुद्धि पर भार हो-चिन्तन मत करो।

शिष्य—ऐसे ही एक-दो उदाहरण और दीजिए जिस से ईशावास्य में गीता की झांकी हो सके ?

गुरु—सुनो, ईशावास्य के '**ईशावास्य मिदं सर्वम्**' को गीताने 'वासुदेव सर्वम्' (७-१६) 'न तदस्ति विना यत् स्यात् मया भूत चराचरम्'। (१०-३६) 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (१०-४२) कहा है। '**तेन त्यक्तेन भुंजीथा**' को 'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म-कारणात्' (३-१३) '**मा गृध कस्य स्विद् धनम्**' को 'समलोष्टाश्म-काचन' (६ ८) (१४ २४) 'यदृच्छालाभ सन्तुष्ट' (४-१२) एवं '**न कर्म लिप्यसे नरे**' को 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (४ १४) 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' (५ ७) 'न करोति न लिप्यते' (१३-३१) कहा है। ईशावास्य के '**तत्र को मोहः क शोकः**' का भाष्य गीताने इस प्रकार किया है कि 'न शोचति न कांक्षति' (१८-५४) 'नाभिनन्दति न द्वेष्टि' (२-५७) 'न द्वेष्टि न कांक्षति' (५-३) 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते' (१८-१०) 'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्' (५-२०) आदि। ईशावास्य के भक्त की '**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः**' वाली प्रार्थनाने गीता में आकर भगवान् की आज्ञा का रूप धारण कर लिया 'मामनुस्मर युध्य च' इति (८-७)। किं बहुना, चिरंजीव! अपने चक्षुओं पर चिरन्तन चिन्तन का चश्मा चढ़ा कर देखो, तुम्हें ईशावास्य के प्रत्यक्षर में गीता गुर्द की प्रत्यक्ष झांकी होगी।



ईशावास्योपनिषद्

शब्दार्थ सहित

शिष्य—गुरुदेव ! आपने मंत्रों का अर्थ तथा भावार्थ तो समझाया । पर प्रत्येक शब्द का अर्थ भी समझाने की कृपा कीजिएगा ?

गुरु—अच्छा सुनो—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ=(सच्चिदानन्द घन) अदः=वह (परब्रह्म), पूर्णम्=पूर्ण है, इदम्=यह (जगत् भी) पूर्णम्=पूर्ण है। पूर्णात्=पूर्ण से, पूर्णम्=पूर्ण, उदच्यते=निष्पन्न होता है। पूर्णस्य=पूर्ण में से, पूर्णम्=पूर्ण आदाय=निकाल लें (तो भी) पूर्णम्=पूर्ण, एव=ही, अवशिष्यते=शेष (बाकी) रहता है। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

सम्पूर्ण जीवन दर्शन (मंत्र १-२-३)

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

ॐ। जगत्याम्=जगत् में, यत् किं च=जो कुछ जगत्=जीवन है, इदम्=यह, सर्वम्=सब ईशावास्यम्=ईश्वर का बनाया हुआ है, तेन=इसलिए, त्यक्तेन=उसके नामसे त्याग करके तू यथाक्रम, भुञ्जीथा=भोगता जा। कस्यस्वित्=किसी के धनम्=धनके प्रति, मा गृधः=वासना न रख।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

इह=इस लोक में, कर्माणि=कर्म, कुर्वन्=करते करते, एव=ही, शतम्=सौ, समाः=वर्ष तक, जिजीविषेत्=जीने की इच्छा करे। त्वयि=तुम दरबन् के लिए, एवम्=यही मार्ग है। इतः=इससे, अन्यथा=भिन्न मार्ग न अस्ति=नहीं। नरे=मनुष्य से, कर्म=कर्म, न=

नहीं, लिप्यते=चिपकता (फलवासना चिपकती है । २ ।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः
ताँस् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

आत्महन=आत्मज्ञानसे शत्रुता करने वाले, ये के च=जो कोई, जना=आत्मघातकी जन हैं। ते=वे, प्रेत्य=देहपातके बाद, अन्धेन=गाढ़, तमसा=अंधकारसे, आवृताः=घिरी हुई असुर्या=आसुरी कही जानेवाली, ते=प्रसिद्ध लोका=योनियां हैं अभिगच्छन्ति=(उनकी ओर) झुकते हैं । ३ ।

आत्मा की महिमा (मन्त्र ४-५)

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तत्=वह (आत्मतत्त्व) एकम्=एक ही एक, अनेजत्=बिलकुल चलन चलन न करने वाला किन्तु, मनस=मनसे भी, जवीय=अधिक वेगवान् है। देवा=देव (इन्द्रियें) एनत्=इसे, न आप्नुवन्=पकड़ नहीं सकते, (उल्टा उसने ही देवों को) पूर्वम्=कभीसे, अर्षत्=पकड़ रखा है। अन्यान्=दूसरे, धावतः=दौड़नेवालों को, तत्=वह, तिष्ठत्=खड़ा रहता ही, अत्येति=पीछे छोड़ जाता है, मातरिश्वा=प्रकृतिमाता की गोदमें खेलनेवाला प्राण, तस्मिन्=इसकी सत्ता पर, अप=हलचल, दधाति=करता रहता है । ४ ।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

तत्=वह, एजति=हल-चल करता भी है और तत्=वह, न एजति=हल चल नहीं भी करता। तत्=वह, दूरे=दूर भी है और तत्=वह, उ=अत्यन्त, अन्तिके=पास भी। तत्=वह, अस्य=इन सर्वस्य=सब के, अन्तर्=भीतर भी है और तत्=वह, अस्य=इन, सर्वस्य=सबके उ=बिलकुल, बाह्यतः=बाहर भी है । ५ ।

आत्मज्ञ पुरुष (मन्त्र ६-७-८)

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

तु=परन्तु, यः=जो, आत्मनि=आत्मा में एव=ही, सर्वाणि=समस्त, भूतानि=भूत, च=और सर्वभूतेषु=सब भूतों में, आत्मानम्=आत्मा को, अनुपश्यति=निरन्तर देखता है, ततः=फिर वह, न विजुगुप्सते=किसी से ऊबता नहीं । ६ ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

यस्मिन्=जिसकी दृष्टि से, आत्मा एव=आत्मा ही, सर्वाणि=सब, भूतानि=भूत, अभूत्=हो रहा है । तत्र=उस, अनु=निरन्तर एकत्वम्=एकत्व, पश्यतः=देखनेवाले, विजानतः=विज्ञानी पुरुष को, मोहः कः ?=मोह कहां ? और शोक कः=शोक कहां ?

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम् अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

सः=वह (आत्मज्ञ पुरुष) शुक्रम्=तेजस्वी, अकायम्=देहरहित इसलिए अव्रणम्=व्रण आदि देह दोषों से तथा अस्नाविरम्=स्नायु आदि देह गुणों से सर्वथा अलिप्त, शुद्धम्=शुद्ध और अपापविद्धम्=पाप वेध-मुक्त, ऐसे आत्मतत्त्व को पर्यगात्=चारों ओर से घेरकर बैठ गया । कविः=वह कवि क्रान्तदर्शी, मनीषी=ज्ञानी, परिभूः=व्यापक और स्वयम्भू=स्वतन्त्र हो गया । उसने शाश्वतीभ्यः समाभ्यः=शाश्वतकाल तक टिकनेवाले, अर्थान्=सब अर्थ याथातथ्यतः=यथावत्, व्यदधात्=प्राप्त किये । ८ ।

बौद्धिक साधना और आत्मज्ञान (मंत्र ९-१०-११)

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥

ये=जो, अविद्याम्=अविद्या को, उपासते=रत रहते हैं, अन्धम्=

घोर, तम =अंधकार में, प्रविशन्ति=चले गये। ये=जो, विद्यायाम्=विद्यामें, रता=रम गये, ते=वे, ततः=उससे, उ=भी, भूयः इव=मानो घोरतर, तमः=अंधकारमें चले गये। ९।

अन्यदेवाहुर् विद्यया अन्यदाहुरविद्यया
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्यया=विद्यासे (आत्मतत्त्वको) अन्यत् एव=भिन्न ही, आहुः=कहा है और अविद्यया=अविद्या से, अन्यत्=भिन्न कहा है। ये=जिन्होंने, न=हमको, तत्=उसका विचचक्षिरे=दर्शन कराया है, धीराणाम्=उन धीर पुरुषों से, इति शुश्रुम=(हमने) ऐसा सुना है।१०।

विद्यां चाविद्यां च यस् तद् वेदोभय सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

विद्याम्=विद्या च=और, अविद्याम्=अविद्या, उभयं सह=इन दोनों के साथ, य=जो, तत्=उस आत्मतत्त्व को, वेद=जानते हैं, (वे उस आत्मतत्त्व के सहारे) अविद्यया=अविद्या से, मृत्युम्=मृत्यु को, तीर्त्वा=पार करके, विद्यया=विद्या से, अमृतम्=अमृत को अश्नुते=पाते हैं।११।

हार्दिक साधना और आत्मज्ञान (मन्त्र १२ १३ १४)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते य उ संभूत्यां रता. ॥१२॥

ये=जो, असंभूतिम्=विरोध में, उपासते=लग गये वे, अन्धम्=गाढ़, तमः=अंधकार में, प्रविशन्ति=पैठे। ये=जो, सम्भूत्याम्=विकास में, रता=रम रहे, ते=वे ततः=उससे, उ=भी, भूय इव=मानो घोरतर अंधकार में पैठे।१२।

अन्यदेवाहु संभवाद् अन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१३॥

सम्भवात्=(आत्मतत्त्व को) विकास से, अन्यत्=भिन्न, एव=ही, आहु=कहा है और असम्भवात्=विरोध से, अन्यत्=भिन्न, आहु=कहा

आत्मज्ञ पुरुष (मंत्र ६-७-८)

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

तु=परन्तु, य=जो, आत्मनि=आत्मा में एव=ही, सर्वाणि=समस्त, भूतानि=भूत, च=और सर्वभूतेषु=सब भूतों में, आत्मानम्=आत्म को, अनुपश्यति=निरन्तर देखता है; ततः=फिर वह, न विजुगुप्सते=किसी से ऊबता नहीं । ६ ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

यस्मिन्=जिसकी दृष्टि में, आत्मा एव=आत्मा ही, सर्वाणि=सब, भूतानि=भूत, अभूत्=हो रहा है । तत्र=उस, अनु=निरन्तर एकत्वम्=एकत्व, पश्यत=देखनेवाले, विजानतः=विज्ञानी पुरुष को, मोहः कः ?=मोह कहां ? और शोकः कः=शोक कहां ?

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम् अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर् मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्
छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

सः=वह (आत्मज्ञ पुरुष) शुक्रम्=तेजस्वी, अकायम्=देहरहित इसलिए अव्रणम्=व्रण आदि देह-दोषों से तथा अस्नाविरम्=स्नायु आदि देह-गुणों से सर्वथा वर्जित, शुद्धम्=शुद्ध और अपापविद्धम्=पाप-वेध-मुक्त, ऐसे परमेश्वर को पर्यगात्=चारों ओर से घेरकर बैठ गया । कविः=वह कवि क्रान्तदर्शी, मनीषी=ज्ञानी, परिभूः=व्यापक और स्वयम्भूः=स्वतन्त्र हो गया । उसने शाश्वतीभ्यः समाभ्यः=शाश्वतकाल तक टिकनेवाले, अर्थान्=सब अर्थ याथातथ्यतः=यथावत्, व्यदधात्=साध लिये । ८ ।

बौद्धिक साधना और आत्मज्ञान (मंत्र ९-१०-११)

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥

ये=जो, अविद्याम्=अविद्या में, उपासते=रम गये हैं, अन्धम्=

घोर, तमः=अंधकार में, प्रविशन्ति=चले गये। ये=जो, विद्यायाम्=विद्यामें, रताः=रम गये, ते=वे, ततः=उससे, उ=भी, भूयः इव=मानो घोरतर, तमः=अंधकारमें चले गये। ९।

अन्यदेवाहुर् विद्यया अन्यदाहुरविद्यया
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्यया=विद्यासे (आत्मतत्त्व को) अन्यत् एव=भिन्न ही, आहुः=कहा है और अविद्यया=अविद्या से, अन्यत्=भिन्न कहा है। ये=जिन्होंने, नः=हमको, तत्=उसका विचचक्षिरे=दर्शन कराया है, धीराणाम्=उन धीर पुरुषों से, इति शुश्रुम=(हमने) ऐसा सुना है।१०।

विद्यां चाविद्यां च यस् तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

विद्याम्=विद्या च=और, अविद्याम्=अविद्या, उभयं सह=इन दोनों के साथ, यः=जो, तत्=उस आत्मतत्त्व को, वेद=जानते हैं, (वे उस आत्मतत्त्व के सहारे) अविद्यया=अविद्या से, मृत्युम्=मृत्यु को, तीर्त्वा=पार करके, विद्यया=विद्या से, अमृतम्=अमृत को अश्नुते=पाते हैं।११।

हार्दिक साधना और आत्मज्ञान (मन्त्र १२-१३-१४)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते य उ संभूत्यां रताः ॥१२॥

ये=जो, असंभूतिम्=विरोध में, उपासते=डूब गये वे, अन्धम्=गाढ़, तमः=अंधकार में, प्रविशन्ति=पैठे। ये=जो, सम्भूत्याम्=विकास में, रताः=रम रहे, ते=वे ततः=उससे, उ=भी, भूयः इव=मानो घोरतर अंधकार में पैठे।१२।

अन्यदेवाहुः संभवाद् अन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१३॥

सम्भवात्=(आत्मतत्त्व को) विकास से, अन्यत्=भिन्न, एव=ही, आहुः=कहा है और असम्भवात्=निरोध से, अन्यत्=भिन्न, आहुः=कहा

सोऽहमस्मि वह मैं हूँ ।१६।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥१७॥

इदम्=यह, अनिलम्=प्राण, अमृतम्=उस चैतन्यमय अमृततत्त्व' में (प्रविशतु=लीन होवे) और शरीरम्=शरीर की, भस्मान्तम्=राख (भूयात्) हो जाय ॐ=ईश्वर का नाम लेकर, क्रतो !=हे दृढ-संकल्पमय जीव ! स्मर=स्मरण कर। अपने संकल्प छोड़कर कृतम्=उसका किया, स्मर=स्मरणकर। १७।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

अग्ने !=मार्गदर्शक देदीप्यमान, देव=प्रभो ! विश्वानि=सब वयुनानि=विश्व में बुने हुए तत्त्व,' विद्वान्=तू जानता है। अस्मान्-हमें, सुपथा=सरल मार्ग से, राये=उस परम आनंद की ओर नय=ले जा। जुहुराणम्=टेढा जाने वाला एनः=पाप, अस्मत्=हमसे, युयोधि=तू दूर हटा (सदैव)। ते=तेरी भूयिष्ठाम्=बार बार, नमउक्तिम्=नम्र वाणी से विनय करते हैं। १८।

ॐ। पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



पद्यानुवाद

—०—

शिष्य—गुरुदेव! आप इस व्याख्या के अनुसार पद्य बनाने की कृपा कीजिएगा जिससे कठस्थ करने में सुविधा रहे?

गुरु—लो, बेटा! यह सब तेरे लिए कर रहा हूँ। पर किसीसे झगड़ा न ठान लेना (वादो नावलम्ब्यः)।

ॐ

पूर्ण ब्रह्म वह तथा, पूर्ण यह जगत पसारा।
'बने पूर्ण से पूर्ण' कहे यह प्रणव हमारा॥
पूरे में से जाय, निकाला जो यह पूरा।
तो भी बाकी बचे, वहा पूरे का पूरा॥

१

जो कुछ जीवन यहा=जगत में दीखे प्यारे।
बसा हुआ है यहीं, ईश के अतुल सहारे॥
इसीलिए तुम करो-त्याग, उस ईश-नाम से।
यथाप्राप्त लो भोग, काम क्या अन्य-दाम से॥

२

रक्खें इच्छा एक, यहा हम चलते-फिरते।
जीवें सच सौ-साल, कर्म हम करते-करते॥
कर्म मार्ग को छोड़, नहीं जग और सहारा।
नर से कैसे चिपक-सके जड़ कर्म बेचारा॥

३

आत्म ज्ञान से शून्य, वही जन स्वात्मघाती।
(देह-पात के बाद, कहां वे जाते पापी?)॥
मुड़ते हैं उस ओर, जहां अति गाढ़ अँधेरा।
वही आसुरी–मूढ़–पाप–पशु–योनि कही है॥

४

आत्म-सत्त्व है एक, नहीं वह हिलता–डुलता।
फिर भी मनसे अधिक, वेग से है वह चलता॥
पकड़ न सकते देव-उसे, पर इन देवों को।
रखा हुआ है पकड़, कभी से पूर्ण पुरुष ने॥
खड़ा-खड़ा ही छोड़ आता, जो दौड़ते दूसरे सकल।
वह 'है' तो चलता प्राण यह, जो रहा प्रकृति में मचल॥

५

करता है वह चलन, और वह चलन न करता।
रहता है वह दूर, और वह पास भी रहता॥
भीतर सब के वास, उसीका रहे निरन्तर।
तथा सभी के वही, सर्वदा रहता बाहर॥

६

लगे दीखने सकल–भूत जब निज में जिसको।
सब भूतों में लगा–देखने जो जन निज को॥
महामना वह कभी, स्वार्थ में नहीं डूबता।
इसी लिए वह कभी, किसी से नहीं ऊबता

१६ तू ही पूषा, निरीक्षक तू, नियामक तू प्रवर्तक तू।
पिता के तुल्य पालक तू, ये पाचों रश्मिया तेरी॥
दिखादे खोलकर इनको, तथा एकत्र सब करके।
"अहा! यह रूप तेजोमय, परम कल्याणतम तेरा॥
रहा हूँ देख अब अपना, परात्पर रूप यह मेरा"।
१७ मेरे इस प्राण का लय हो, अमर उस तत्त्व चेतन में।
मिलें सब तत्त्व देवों में, अनन्तर राख हो तन की॥
तू लेकर नाम ईश्वर का, सभी निज कल्पना छोड़।
मेरे सकल्पमय जीव, किया उसका स्मरण कर तू॥
मेरे सकल्पमय जीव, किया उसका स्मरण कर तू॥
१८ परम देदीप्यमान भगवन्! तू ही है मार्ग का दर्शक।
बुने हैं विश्व मे जो जो, सभी वे तत्त्व तू जाने॥
हमें तू सरल मार्ग से, परम आनद तक ले जा।
हटादे दूर तू हमसे, कुटिल गति पाप जो भगवन्।
विनय करते हैं हम तेरी, अनेकों बार वाणी से।
विनय करते हैं हम तेरी, अनेकों बार वाणी से॥
ॐ पूर्ण ब्रह्म वह तथा, पूर्ण यह जगत पसारा।
'**बने पूर्ण से पूर्ण**' कहे यह प्रणव हमारा॥
पूरे में से जाय, निकाला जो यह पूरा।
तो भी बाकी बचे, वहा पूरे का पूरा॥
ॐ शान्ति शान्तिः शान्ति

अशुद्धि-संशोधन

—०—

अशुद्ध,	शुद्ध,	पृ०,	पंक्ति,
कौर	और	३	२१
अवश्यकता	आवश्यकता	६	१४
८	९	१०	२६
परार्थ में	परार्थ या आत्मार्थ में	४१	११
झघड़ा	झगड़ा	७२	११, १२
व्यक्य	वाक्य	८३	३
सन्नहवें	सत्रहवें	९५	१६
आद्दाय	आदाय	१०६	१८
अधकार	अंधकार	११२	११

कृपया अशुद्धियां सुधार कर पढ़िएगा।

निवेदक निगम